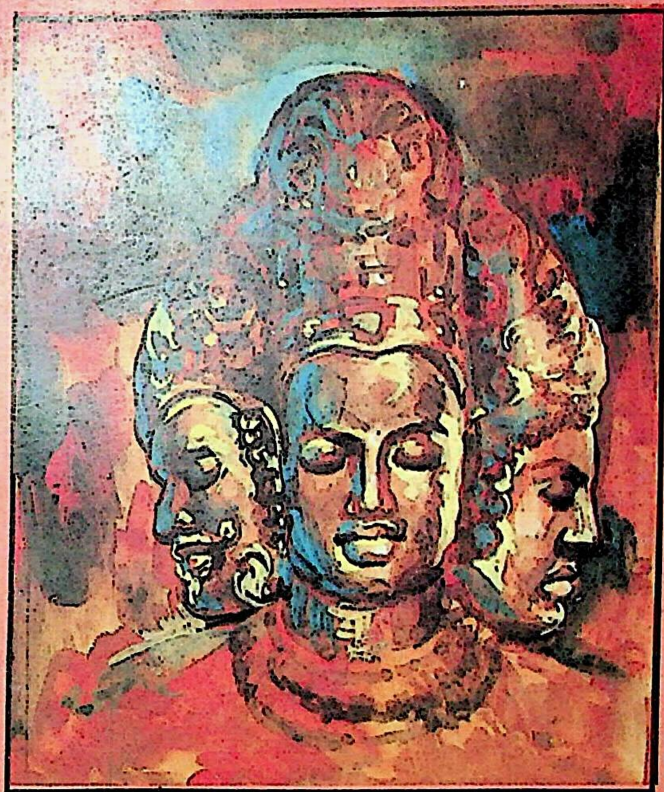
भारत की आत्मा



ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

भारत की आत्मा

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

सम्पादिका
ब्रह्मऋता परिव्राजिका

दिव्यालोक प्रकाशन
विराट् नगर, पिन्जौर

प्रकाशक
दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट् नगर, पिन्जौर
फोन : ०१७३३–६५१७०

संस्करण – तृतीय
सितम्बर, १९९७

आवरण पृष्ठ
जे. मार्टिन

मूल्य २५/–

शब्द संयोजक :
गोयल कम्पयूटर सैन्टर,
नज़दीक बस स्टैन्ड, पिन्जौर

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्ज़,
नवीन शाहदरा, दिल्ली – 32

भूमिका

किसी भी राष्ट्र का उत्थान वहाँ की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित होता है और जब कभी भी राष्ट्र किसी काल विशेष में पतनोन्मुख अवस्था को प्राप्त होता है तो मुख्य रूप से दो ही कारण दृष्टिगत होते हैं। पहला राष्ट्र उत्थान की दार्शनिक पृष्ठभूमि को विकृत रूप से समाज ने स्वीकार कर लिया हो और दूसरा राष्ट्र के नागरिक दार्शनिक सिद्धान्तों की जानकारी रखते हुए भी प्रमादवश उनका उपयोग दैनिक व्यवहारिक जीवन में न करते हों। भारत की वर्तमान स्थिति का सूक्ष्म रूप से अवलोकन करने पर पता लगेगा कि आज का जनमानस उक्त दोनों कारणों से प्रभावित हो, मृगतृष्णावत् सत्य की खोज में भाग रहा है।

भारत भूमि को आदि काल से ही यह महान् गौरव प्राप्त हुआ है कि इसकी गोद कभी, किसी भी काल में दार्शनिकों एवं मनीषी महापुरुषों से खाली नहीं रही है। सृष्टि के मानव–मात्र को जीवन में जीने की कला की सीख देने की योग्यता एवं सामर्थ्य के सम्पादन से इतिहास भरा पड़ा है। महाराज मनु का यह गौरव युक्त घोष :–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

(मनु. २/२०)

अर्थात् "इस देश में उत्पन्न हुए, हमारे पूर्व–पुरुषों के सान्निध्य से, पृथ्वी के सभी मानवों ने अपने–अपने चरित्र की शिक्षा प्राप्त की।" यह घोष आज भी उस महानता को प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर रहा है। सृष्टि परिवर्तन के क्रम में समय–समय पर मानवीय गुणों का परिवर्तन भी होता रहता है। परिवर्तन के इस प्रवाह में मानव भी तदनुरूप गुणों के वशीभूत हो उस काल के समाज की रचना करता है जिसके आधार पर निर्मित होता है एक युगीन इतिहास।

परिवर्तन प्रवाह के क्रम में मानवीय सृष्टि शान्ति के पथ को प्राप्त करने के लिए एक चौराहे पर खड़ी हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में तत्त्ववेत्ता दार्शनिक महापुरुष दार्शनिक सिद्धान्तों को समाज के सामने व्यक्त करता है जो कि उसके जीवन का निचोड़ होता है। शान्ति–पथ का दिग्दर्शन कराने वाले दार्शनिक को वह सत्यानुभूति व्यष्टिगत् चिन्तन से परे, समष्टिगत् हित में चिन्तित, गुणों के प्रवाह से ऊपर उठकर प्रतिष्ठित होती है जिसके प्रकाश में प्रत्येक मानव, अपने प्रत्येक कार्य का कारण और उसके द्वारा मिलने वाले परिणाम का मूल्यांकन कर, मिले हुए जीवन की सार्थकता का रसास्वादन करता है।

वर्तमान के तथाकथित बुद्धिजीवी लोग इस प्रकार की सत्यानुभूति को नहीं समझने के कारण उसे रूढ़ी, परम्परा और अतीत की घिसी–पिटी व्यर्थ की बातें बताकर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और प्रवाहमार्गी जनमानस उन्हीं का अन्धानुकरण कर अपने जीवन में उपहास के पात्र बनते हैं। आन्तरिक अभिप्सा शान्त न होने से और बाह्य असन्तोष की अभिवृद्धि से अव्यवस्थित समाज राहत की माँग करता है लेकिन ऐसे वर्ग के पास न कोई ठोस सुझाव ही होता है न सिद्धान्त ही। अतीत के प्रति उपेक्षा के भाव उस तरफ आँख उठाकर देखने भी नहीं देते। सारा जनमानस भ्रमित अवस्था को प्राप्त हो सुव्यवस्था की खोज में अन्य देशों के देश, काल, परिस्थिति के प्रभाव से निर्मित वादों की तरफ झांकता है, जो कि स्वयं अभी प्रयोग की पोढ़ी पर खड़े हैं।

"भारत की आत्मा" वर्तमान में समाज की सही स्थिति का दिग्दर्शन कराने के साथ–साथ अतीत एवं वर्तमान के सौन्दर्य पूर्ण समन्वय की व्यवस्था पर प्रकाश ड़ालती है। भारतीय दर्शन प्रणाली में कोई भी सिद्धान्त न तो अवैज्ञानिक है और न व्यवहारिक जीवन से दूर ही। आवश्यकता है विवेक के प्रकाश में उन्हें जीवन में प्रयोग करने की। जीवन में जीने की कला का वह सुन्दर प्रकरण जो कि यज्ञमय जीवन पर आधारित है, जिसके प्रकाश में मानव अपने स्वभाव–जन्य गुणों से प्रभावित हो अनेक देवताओं की उपासना कर मिली हुई अनुभूति में एकत्व का दर्शन करता है। एकत्व की प्रस्थापना जब जीवन में प्रस्थापित हो जाती है उसी समय राष्ट्र संगठन शक्ति के महत्त्व को वास्तविक रूप से समझ पाता है। प्रत्येक मानव का जीवन त्याग, सेवा और प्रेम से परिपूर्ण हो सर्वभूतहित के लिए समर्पित

हो जाता है। यज्ञमय जीवन की यह सुन्दर प्रक्रिया काल क्रम से प्रताड़ित हो किस तरह विकृत स्वरूप को प्राप्त हो, किसी क्रिया विशेष को ही यज्ञमय जीवन की संज्ञा से जानी जाने लगी; यह इस पुस्तक का विचारणीय बिन्दु है।

"भारत की आत्मा" का यह प्रथम भाग उत्थान–पतन के कार्य–कारण का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करने के साथ संक्षिप्त रूप से यज्ञमय जीवन के आधार पर जीने की कला का चित्रण करता है। मुख्य रूप से मननशील लेखक श्री बावरा जी महाराज इसके द्वितीय भाग में गीतोक्त अध्यात्मवाद की वैज्ञानिक रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

पाठकगण ध्यान से पुस्तक के दार्शनिक विचारों पर मनन करेंगे तो निश्चय रूप से भारतीय दार्शनिक पृष्ठभूमि की महानता को स्वीकार करते हुए मिले हुए जीवन में भारतीय अध्यात्मवाद की प्रस्थापना कर पुनः विश्व को शान्ति की दिशा प्रदान करने में सफल होंगे।

अप्रैल 1969

धर्मनारायण आचार्य
भारतीय संस्कृति सेवा संघ
उदयपुर (राज॰)



दो शब्द

"भारत की आत्मा" का तृतीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे विशेष प्रसन्नता हो रही है। प्रथम संस्करण परम पूज्य गुरुदेव के प्रिय शिष्य श्री धर्म नारायण जी आचार्य के द्वारा १९६६ में निकाला गया था। पिछले कई वर्षों से दिव्यालोक संग्रहालय में इसकी एक भी प्रति शेष न थी। पाठकों के द्वारा बहुत बार इस पुस्तक की माँग होती थी परन्तु कई कठिनाइयों के कारण हम इसको पूरा न कर सके। इस वर्ष आचार्य श्री जब यूरोप की यात्रा पूर्ण करके जनवरी में भारत पधारे तो इस सम्बन्ध में पुनः उनके समक्ष यह प्रस्ताव रखा गया। ईश्वरीय प्रेरणा तथा परम पूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से इस कार्य को सम्पन्न करने की लालसा मेरे ह्रदय में जागृत हुई। "सहज समाधि भली" साहित्य के क्षेत्र में मेरा प्रथम प्रयास था। अनेक त्रुटियों के रहने पर भी पाठकों के द्वारा उसके सफल संकलन के समाचार मुझे मिलते रहे जिससे उत्साहित होकर पुनः इस क्षेत्र में आपकी सेवा करने का मैंने यह अल्प प्रयास किया है।

वैदिक साहित्य तथा विज्ञान की जिस दार्शनिक उपलब्धि को परम पूज्य आचार्य श्री ने "भारत की आत्मा" में प्रस्तुत किया है, वह आज की स्थिति में मनन और चिन्तन का विषय है। आचार्य श्री की बहुमुखी प्रतिभा तथा दार्शनिक व्यक्तित्व की झलक उनकी रचनाओं तथा लेखों में मिलती है। इस पुस्तक में संगृहीत सभी लेखों पर उनके दार्शनिक विचारों की गहरी छाप है। वर्तमान समय-में प्रचलित कुछ एक रूढ़ मान्यताओं का निराकरण आचार्यश्री के द्वारा बड़े ही मौलिक, तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक ढ़ंग से किया गया है जो आधुनिक समय की पठित युवा पीढ़ी तथा विज्ञजनों के लिए सहज ही बुद्धि ग्राह्य है। बिना इस बात को समझे कि "धर्म" शब्द इस देश में लाखों वर्षों से किस अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, शिक्षित वर्ग अविश्वास तथा अश्रद्धा के संकुचित दृष्टिकोण से अपने देश के सांस्कृतिक सिद्धान्तों पर प्रश्न चिन्ह लगाये, यह अनुपयुक्त है। "पतन का हेतु" लेख में

आचार्य श्री ने धर्म के नाम पर फैली अनेक ऐसी अन्ध मान्यताओं का खण्डन करते हुए इस बात पर ज़ोर दिया है कि धर्म सम्प्रदाय बोधक नहीं, जीविका का साधन नहीं, जादू–टोना नहीं अपितु जीवन की एक ऐसी पद्धति है जिससे मनुष्य सर्वतोमुखी विकास करता हुआ निःश्रेयस को प्राप्त होता है। एक कट्टर हिन्दू होने के नाते जहाँ एक तरफ वे अपनी मान्यताओं तथा मूल्यों के पालन का आदेश देते हैं वहाँ दूसरी तरफ उतनी ही कट्टरता और कठोरता के साथ उन सब तत्त्वों के निराकरण का भी जिनसे जाति, देश, समाज तथा धर्म के मूल्यों को आघात पहुँचता हो।

प्रथम लेख "सत्य की ओर" में आचार्य श्री ने बड़े अनूठे ढंग से विश्व की हाट में होने वाली सत्य की सौदेबाजी तथा उसके लिए हाका करने वाले समस्त सौदागरों से लोगों को सचेत रहने के लिए सजग किया है और साथ ही इस सत्य का भी उद्घाटन किया है कि जीवन में अभाव, अशान्ति तथा दुःख के निवारण का साधन केवल मात्र सत्य की जिज्ञासा ही है जिसकी पूर्ति समस्त सद्शास्त्रों तथा सत्पुरुषों के सन्देश के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं। इसी प्रकार "जीवन का आधार" में आचार्यश्री ने अनेक वैज्ञानिक प्रमाणों के द्वारा वर्तमान के बुद्धिजीवियों तथा वैज्ञानिकों का ध्यान इस तरफ केन्द्रित किया है कि अध्यात्मवाद के आधार पर संगठित सामाजिक व्यवस्था ही सृष्टि के सम्पूर्ण मानव के लिए परमोपयोगी है। "दर्शन तथा विज्ञान" नामक लेख अध्यात्म और विज्ञान का ऐसा संतुलन प्रस्तुत करता है जिससे आन्तरिक और बाह्य अन्धेरे छटते हैं और सही मार्ग पहचाना जाता है। "यज्ञमय जीवन" में आचार्य श्री ने "यज्ञ" शब्द की परिभाषा करते हुए अनेक वैदिक प्रमाणों तथा अपनी तर्कशीलता के आधार पर जो विवेचन प्रस्तुत किया वह अपने आप में अनुपम है जिसे इस दिशा में अब तक समझने प्रयास किया गया। उनके अनुसार यज्ञ का अभिप्राय केवल वेदी और अग्नि कुण्ड बनाकर उसमें विभिन्न देवताओं के नाम से आहुतियाँ देने से ही नहीं है वरन् व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से मानव समाज के उत्कर्ष तथा कल्याण के जितने महत्वपूर्ण कार्य हैं उन सबका समावेश है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत कृति उन सब शंकाओं का समाधान देगी जो वर्तमान समय में धर्म, संस्कृति तथा यज्ञ के नाम से प्रचारित हो रही हैं।

पाठकों को कुछ बातों का कई प्रकरणों में उद्धरण मिलेगा इसको

पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए। महत्वपूर्ण और गहन विषयों को पाठकों को हृदयंगम कराने के लिए ऐसा किया गया है जैसी कि धार्मिक ग्रन्थों की शैली चली आ रही है। इस संस्करण में कई स्थलों पर विषय को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से परिवर्द्धन किया गया है। आशा है पाठकगण इससे अधिक लाभ प्राप्त कर सकेंगे। अन्त में सन्त शिरोमणि तुलसी दास जी के शब्दों को:–

गई वहोर गरीब नेवाजू।
सरल सवल साहिव रघुराजू।।
तेहिं वल मैं रघुपति गुन गाथा।
कहिहऊं नाइ राम पद माथा।।

हृदय में धारण करते हुए दृढ़ विश्वास तथा आस्था के साथ कि प्रभु अपने अहैतुकी रक्षा स्वयं ही करते हैं, पुनः–२ उनकी अनुकम्पा को प्राप्त करते हुए "भारत की आत्मा" का यह संशोधित और परिवर्द्धित तृतीय संस्करण मेरे परम आराध्य गुरुदेव ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा जी महाराज के चरणों में सादर समर्पित है।

ब्रह्मऋता
प्रचारिका-इन्टरनैशनल ब्रह्मर्षि मिशन
विराट् नगर, पिन्जौर (हरियाणा)

२०–६–६७

अनुक्रमणिका

सत्य की ओर

जीवन में जीने की कला कहाँ से कैसे प्राप्त की जाये ?

शास्त्र अनेक हैं, एक–एक शास्त्र पर भी अनेकों महापुरुषों के विचार क्रम हैं, जिन पर सभी के अपने–२ भिन्न–२ मत हैं। स्वतन्त्र विचारकों की भी विचारधाराएं एक नहीं फिर विश्वास किस पर किया जाये?

सभी आचार्यों का जीवन अपने में पूर्ण है और सभी ने कुछ न कुछ अपने ढंग से मानव समाज के लिए विशिष्ट जीवन पद्धतियों का अन्वेषण कर नये मार्ग सुझाए हैं। अतः उनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

जीवन के आधारभूत सत्य के सम्बन्ध में कुछ लोगों का मत है–भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरक एक ही के ये तीन रूप हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि प्रेरक तथा भोक्ता तो एक ही हैं किन्तु भोग्य भिन्न है। कुछ लोग कहते हैं कि नहीं तीनों का अपना भिन्न–२ अस्तित्व है, अतः तीनों तीन हैं और सत्य हैं।

किसी विचारक का मत है कि जो दिखाई दे रहा है वही सत्य है, उससे परे कुछ नहीं। दूसरा कहता है कि जो भी कुछ दिखाई दे रहा है, वह सर्वथा मिथ्या है, सत्य तो कुछ और ही है, जिसे कि हमारी इन्द्रियां कभी भी जानने में समर्थ नहीं हो सकती।

कोई कहता है जगत तथा जीव से परे और कुछ नहीं है

कन्तु कोई कहता है जगत और जीव की कल्पना केवल आकाश–कुसुमवत् है, वस्तुतः इसकी अपनी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। समस्त नाम–रूपों के माध्यम से एक ही सत्य तत्त्व की अभिव्यक्ति हो रही है। इन सभी प्रकार के विचारकों के पास अपने–२ ढंग के प्रमाण हैं।

भला विश्व का प्राणी जो अपने धन्धे से खाली नहीं, छोटा सा जीवन है, बड़ी–बड़ी कामनायें हैं, एक–२ कामना की पूर्ति के लिए कई बड़ी–२ योजनायें हैं, एक–एक योजना को पूर्ण करने के लिए सारा जीवन भी पर्याप्त नहीं, सारा कार्य तो विश्राम के लिए ही करता है किन्तु जीवन में कहीं भी उसकी गन्ध तक उपलब्ध नहीं होती; क्या करें? कहाँ जायें? किससे पूछें? कौन उसके हित की बात बतायेगा? कहते तो सभी लोग हैं हम तुम्हारे हित की बात बतायेंगे, तुम्हारे लक्ष्य तक पहुँचायेंगे, किन्तु कहने वाले तो एक नहीं, इनका तो तांता सा लगा हुआ है।

इस विश्व की हाट में होने वाली सत्य की सौदेबाजी तथा उसके लिए हाका करने वाले इन समस्त सौदागरों ने जीवन तथा उसके उद्देश्य के विषय में अपने–अपने ढंग से ऐसी कई पहेलियां गढ़ दी हैं जिनको सही रूप से बूझना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव सा हो गया है। इन पहेलियों को भला कैसे सुलझायें कि हमारे लिए परमोपयोगी, परम विश्रामदायक, वह परम सत्य क्या है जिसको प्राप्त करने के लिए हम रात दिन धरती–आकाश एक कर रहे हैं। उसकी उपलब्धि हमें कैसे हो जिसको प्राप्त कर पुनः कुछ पाने की चाह ही न उठे क्योंकि विश्व का कोई भी प्राणी प्रतिपल चाह की गुलामी से चिन्तायुक्त होना पसन्द नहीं करता।

यदि सचमुच जीवन का लक्ष्य एक है तथा उसका आधारभूत वह परम सत्य भी एक ही है और यह सभी जानकार उस एक

ही परम तत्त्व तक पहुँचाने की सौगन्ध खाते हैं, तो यह बात समझ में नहीं आई कि उस सत्य की व्याख्या में इतना विभेदकारी विपरीत विचार क्यों और कैसे? गणित की दृष्टि से यदि एक के लिए 'दो और दो चार' है तो क्या कभी दूसरे के लिए 'दो और दो पाँच हो सकता है? यदि नहीं तो इन जानकारों के जाने हुए सत्य के विषय में यह विषमता क्यों? उस सत्य के विषय में जिसकी जिज्ञासा ही हमारे जीवन का स्वरूप है, किसकी मान्यता को सही माना जाये, उस सत्यानुभूति के तो सभी दावेदार हैं? किसका दावा सत्य है, यह कौन निर्णय करे?

गहराई से विचार करने पर वर्तमान की विभेदकारी विपरीत विचारधाराओं से मुक्त हो भविष्य की योजनाओं को सफल बनाने के लिए मानव समाज अपने अतीत की ओर मुड़ कर देखना चाहता है कि क्या कोई सरल, सरस, सुन्दरतम साधन किसी मानव को उपलब्ध हुआ था जिसको आधार बना कर हम भी अपने भविष्य के निर्माण में सफलता प्राप्त कर सकें ? यह तो होना ही चाहिए जबकि वर्तमान में कोई भी हितप्रद मार्गदर्शन मानव जाति को उपलब्ध न हो सके तो उसकी पूर्ति के लिए वह अपने अतीत का दरवाज़ा खटखटाये, क्योंकि इस विश्व में कुछ भी नया नहीं है। यदि मानव अपने जीवन से अतीत को अलग कर दे तो वर्तमान उसका अपना कुछ भी नहीं रह जाता। वर्तमान में जो भी कुछ प्रतीत हो रहा है वह अतीत की ही तो देन है।

इस नये युग में नित्य नई बातें सुनने को मिलती हैं। मानव जाति के लिए विश्व के बाजार में एक और नया सुझाव रूप सौदा बिक्री के लिए उपस्थित किया गया है। उन सौदागरों का मत है, अरे विश्व के मनुष्यो! यदि तुम जीवन में चिरविश्राम तथा

पूर्ण शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो अपने अतीत को सदा के

लिए भूल जाओ क्योंकि वह अतीत की ही स्मृति है जो तुम्हारे जीवन में अनेक प्रकार की व्यथा को जन्म देकर व्यथित किया करती है। कुछ सीमा तक उनका मत भी तो ठीक ही है। अतीत की स्मृति तथा भविष्य की चिन्ता के अतिरिक्त और मानव जीवन में दुःख का दूसरा कोई कारण भी तो नहीं मिलता। किन्तु समस्या तो यह है कि क्या किसी मानव के लिए अतीत का त्याग सम्भव है?

हम देखते हैं कि केवल अतीत तथा अनागत को वर्तमान से अलग करने के लिए कुछ लोग ही नहीं बल्कि समस्त मानव समाज भिन्न–२ प्रकार के उपकरणों का सहारा लेता है। कोई तो शराब के द्वारा, कोई शतरंज के द्वारा, कोई सिनेमा के द्वारा और कोई साथियों के साथ। कई भिन्न–२ भांति के मनोरंजनप्रद साधनों को अपना कर कलियुगी मन्दिर क्लबों में सारी–२ रातें व्यतीत किया करते हैं किन्तु आफत तो यह है कि ये सारे उपाय अब तक अतीत को अलग करने तथा अनागत की चिन्ता से मुक्त होने में किञ्चिन्मात्र भी सहायक नहीं हो सके। इसके विपरीत कुछ और भी उपाय हैं जिसको लोगं धर्म के नाम से पुकारते हैं। अनेकों मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर हैं, अनेकों तीर्थ, व्रत, नियम अपना कर वे इस उपाधि से मुक्त होना चाहते हैं। इतना ही नहीं भाँति–२ के जप–तप, ध्यान–धारणाएं, जो कुछ भी जिसने बताया, बेचारा मानव सभी कुछ करने के लिए राज़ी हो गया, केवल इसलिए कि अतीत की स्मृति से छुटकारा तथा अनागत की चिन्ता से मुक्ति मिल सके। क्या ये सभी उपाय अब तक व्यर्थ ही रहे? ऐसा तो कहा नहीं जा सकता। तो यह भी कहना उचित नहीं कि ये सभी परमोपयोगी सिद्ध हुये हैं। बड़ी ही जटिल समस्या है, जिसके सुलझाव के लिए अब तक

अनेकों प्रयत्न होते रहे, होते हैं और शायद होते ही रहेंगे किन्तु

अब तक की अनुभूति के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि मानव समाज असफल ही होता रहा है, ऐसा इतिहास की उपलब्धियाँ संदेश देती हैं। जो भी हो सारांश तो यह है कि अतीत से अलग होने पर मानव का वर्तमान ही शेष नहीं रह जाता तो अनागत की सफलता का फिर प्रश्न ही कहाँ? मानव कहते भी तो उसे ही हैं जो अतीत की उपलब्धियों के परिणाम रूप वर्तमान को साधन बना कर भविष्य में 'शान्तं शिवं अद्वैतं' की स्थिति को प्राप्त करने के लिए लालायित हो।

कुछ लोग तो यह भी कहते सुने जाते हैं कि भूत–भविष्य की तो कल्पना है, सत्य तो केवल वर्तमान ही होता है। यदि वर्तमान में ही सत्य की प्रतिष्ठा है तो उसके लिए भविष्य की आशा क्यों की जाए? बातें तो बड़ी मीठी हैं, सुनने में भी रुचिकर तथा सत्य सी प्रतीत होती हैं। किन्तु मेरा एक प्रश्न है कि श्रीमान् महोदय! अतीत और अनागत के सम्बन्ध से विमुक्त होकर मानव समाज को मुक्त होने की सीख देने आप कैसे पहुँच गये? भला अतीत से मुक्त हुए सज्जन को मानव समाज के अतीत की स्मृति कैसे आ गई? क्या सचमुच यह वैसी ही विडम्बना नहीं है जैसे कि कोई भद्र पुरुष कहे, 'वन्ध्या मम जननी' अर्थात् मेरी माँ बांझ है? यदि माँ वन्ध्या है तो श्रीमान् का आविर्भाव ही कैसे हो गया? भला इस प्रकार के महापुरुषों को कौन समझावे कि आपका सारा जीवन, आपका सारा संदेश, आपकी ये सारी प्रवृत्तियां अतीत के परिणाम की ही अभिव्यक्ति हैं। मैं किसी विचार का खण्डन तथा विचारकों की आलोचना करने के लिए यहाँ व्याख्यान नहीं दे रहा हूँ, मेरे कहने का तो केवल इतना ही प्रयोजन है कि ऐसे महानुभाव पूर्व के सभी वेदादि सत्शास्त्रों की उपेक्षा का संदेश देते हैं तथा पूर्व के सुसांस्कृतिक सिद्धान्तों की हंसी उड़ाते हैं। क्या हम गीता के उस सिद्धान्त को असत्य मान लें,

जिसमें यह बताया गया है कि जो पूर्णत्व को स्वंय में प्रतिष्ठित कर लेता है, वह अतीत, अनागत तथा वर्तमान के समस्त तत्त्वों का ज्ञाता हो जाता है, जिसे शास्त्रीय शब्दों में त्रिकालज्ञ कहते हैं। भगवान् ने कहा है –

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।
(गीता ७/२६)

"जो हो गये हैं, जो हैं तथा जो होंगे, उन सभी को मैं जानता हूं, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।" कहने का अभिप्राय यह कि योगी, सिद्ध तथा साधक के जीवन में भी अतीत तथा अनागत को जानने की ही उत्कण्ठा होती है और वह उसको जान भी लेता है। जीवन के कार्य–कारण सम्बन्ध का बोध प्राप्त करके सदा के लिए उसकी आसक्ति से मुक्त हो जाता है। कार्य–कारण सम्बन्ध को बिना जाने उससे अलग नहीं हुआ जा सकता। अतः विवेक की दृष्टि से जीवन में अतीत की विस्मृति नहीं बल्कि उसके कार्य–कारण सम्बन्धों की जानकारी के लिए ही सभी उपाय किए जाते हैं।

गहराई से विचार करने पर यह बोध होगा कि जीवन में अतीत तथा अनागत से रहित वर्तमान और है ही क्या? इतना ही नहीं, विचार करते हुए एक क्षण पूर्व जो सोचा वह अतीत हो गया, आगे सोचने की जो प्रवृत्ति है वह अनागत है? आखिर वर्तमान का स्वरूप क्या रहा? मेरी तो यह राय है कि जब भूत और भविष्य नहीं तो वर्तमान की कल्पना ही कहाँ रहेगी? उस अवस्था में जो कुछ भी है वह तो अनिर्वचनीय है, उसके सम्बन्ध में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। सच बात तो यह है कि जहाँ भूत और भविष्य को मिटाने की बात की जाती है, वहाँ एक

बहुत बड़ी भूल होती है, वह यह कि उन दोनों के आधार रूप

वर्तमान की पुष्टि करने की भावना को प्रोत्साहित किया जाता है। जिस प्रकार एक रेखा को खींचने पर उसके दोनों ओर के अस्तित्व को अस्वीकार करना सम्भव नहीं, जब तक की रेखा का अस्तित्व बना है; ठीक उसी प्रकार रेखा के समान अपने सीमित चित्तगत चेतना की अभिव्यक्ति रूप अहं के आधार वर्तमान को स्वीकार करने से उसके दोनों ओर अतीत तथा अनागत को अस्वीकार करना असम्भव है। क्योंकि वर्तमान कहते ही भूत और भविष्य दोनों सर उठाकर खड़े हो जाते हैं, जिनको कभी किसी के लिए भी दबाना सम्भव नहीं।

यह बात सत्य है कि सत्य अनन्त है, अनन्त में कभी भी काल–भेद, देश–भेद, अवस्था–भेद की कल्पना अतर्क्य तथा मिथ्या है किन्तु अपने जीवन की पहेली उस अनन्त सत्य की केवल स्वीकृति मात्र से ही तो नहीं सुलझती। विचारक को यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान की व्याख्या एवं व्यवस्था उस अनन्त सत्य के नाते नहीं अपितु जीव के नाते की गई है। यदि आप स्वयं में ही अनन्त सत्य हैं तो सचमुच आपके लिए अतीत और अनागत कुछ भी नहीं है किन्तु यदि आप अपने को एक व्यक्ति रूप में स्वीकार करते हैं तो आपका अतीत भी होगा और अनागत भी, उससे आप कभी भी छुटकारा नहीं पा सकते। अब आप स्वयं अपनी स्थिति पर विचार करलें कि इस अवस्था में आप क्या हैं? यदि सत्य अनन्त हैं तो साधनादि की समस्त बातें व्यर्थ हैं, आपके लिए उपदेश आदि भी व्यर्थ हैं, क्योंकि न तो जल को कभी प्यास ही लगती है, न उसको बुझाने के लिए किसी अन्य जल की आवश्यकता ही होती है किन्तु यदि आप को कुछ पाने की चाह है और आपको उसके लिए साधना की आवश्यकता है तो आप निश्चित समझें कि जब तक व्यष्टि चित्त के माध्यम से चेतन की अभिव्यक्ति की

अवस्था विशेष बनी हुई है, तब तक जीव तथा उसका जीवत्व विद्यमान रहेगा और जीवत्व के होते हुए अतीत तथा अनागत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अहं को स्वीकार करते हुए यदि ऐसीं अवस्था में इस बात के लिए कोई प्रयत्न किया जाये तो वह तर्कहीन, मिथ्या और भ्रमपूर्ण ही कहा जायेगा।

अब यह बात तो समझ में आ गई होगी कि मानव किसी भी प्रकार से वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने के लिए उसके कारण रूप अतीत के संस्कारों को भुला नहीं सकता। यदि वह भूतकाल के आधार पर भविष्य को सुन्दर बनाने के लिए वर्तमान में प्राप्त शक्ति तथा योग्यता का सदुपयोग करता है तो उसे अवश्य ही कुछ काल के लिए शान्ति तथा विश्राम की उपलब्धि हो सकती है। यदि वह सदा के लिए जीवन की समस्त समस्याओं को समाप्त करना चाहता है तो उसके लिए अपने अतीत तथा वर्तमान के कार्य–कारण सम्बन्धों पर विचार करना ही होगा।

जीवन क्या है? जीवन का कारण क्या है? अभाव क्यों हैं? उनकी पूर्ति का क्या उपाय है? इन समस्त प्रश्नों के आदि में केवल एक ही सत्य की जिज्ञासा मूल रूप में विद्यमान है, जिसकी पूर्ति के लिए समस्त सद्शास्त्रों तथा सत्पुरुषों के सन्देश को प्रयोज्य माना गया है। दर्शन का विषय है 'निर्विकार सत्य की अनुभूति'। हम अपने बाह्य तथा अन्तः इन्द्रियों से जो कुछ भी दृश्य देखते हैं, विचार करने पर वह असत्य ही प्रतीत होता है, अतः इनके द्वारा निर्विकार सत्य का बोध नहीं हो सकता। उसके लिए श्रुति का कथन है –

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

(कठ० १–३/१२)

अर्थात् हमें पदार्थों के सूक्ष्मतम रूप को सूक्ष्मतम दृष्टि से देखने की आवश्यकता है, इसी को दर्शन कहते हैं।

एक सामान्य सा उदाहरण ले लीजिए "यह समस्त दृश्यमान जगत हमें गतिहीन या स्थिर सा दिखाई देता है, किन्तु सत्य बात बिल्कुल इसके विपरीत है।" पूर्व के ऋषियों ने भी इस दृश्य को 'जगत्यां जगत्' कह कर निर्दिष्ट किया था जिसकां अर्थ होता है, "सतत गतिशील प्रतिपल परिवर्तित होने वाला अथवा एक रूप में न रहने वाला पदार्थ"। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी खोजते–२ अब इस सत्य का अनुभव किया है, उनका कहना है कि एक आलपिन की नोक के बराबर बर्फ के कण में लगभग दस शंख अणु होते हैं और ये आपस में प्रति सैकण्ड हज़ारों बार टकराते हैं। यही दशा दूसरे द्रव्यों की है। भौतिक विज्ञान कहता है कि अणुओं के अंगभूत परमाणुओं के भीतर विद्युत्कण घूमता रहता है। इसके घूमने का वेग प्रति सैकण्ड दो लाख मील से भी अधिक है। परमाणुओं के संघात से ही यह सारा दृश्यमान जगत् अवस्थित है, जिसमें गति के साथ प्रतिपल परिवर्तन हो रहा है, किन्तु हम उसे स्थिर तथा अचल ही देखते हैं। इससे यह बात समझ में आ गई होगी कि जो कुछ हम देख रहे हैं, वह सत्य नहीं बल्कि सत्य उससे भिन्न है। जिस प्रकार का भ्रम इस जगत् के प्रति है, उससे भी कई गुणा अधिक भ्रम हमें अपने जीवन के प्रति हो गया है। यही कारण है कि जीवन एक ऐसी विचित्र पहेली बन गया है, जिसको बुझाने के लिए हमें भिन्न–२ प्रकार की युक्तियां बतलाई जाती हैं और उनका परिणाम क्या निकलता है, उससे हम सब अनभिज्ञ नहीं।

यह विचित्र पहेली कोई नवीन रूप से हमारे सामने आई है, ऐसी बात तो है नहीं। हमारे से पूर्व में भी तो मानव समाज रहा है, उनके अपने जीवन की पहेलियां भी रही हैं। उनके सुलझाने

के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न भी होते रहे हैं तथा उनमें उन्हें

सफलताएं भी मिलती रही हैं। तभी तो आदिकाल का ऋषि उद्घोष करता है –

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।
(श्वेताश्वतर० ३/८)

अर्थात्, "मैं इस महान् पुरुष को जो माया रूपी तम से परे आदित्य के समान परम तेजोमय है, जानता हूँ। उसको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है।" लक्ष्य तक पहुँचने के लिए वा समस्त समस्याओं को सुलझाने के लिए अथवा इस जीवन की पहेली को बूझाने के लिए और कोई दूसरा मार्ग या उपाय नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि इस विषमता में भी समता के आधार को ढूंढ निकालने वाले महापुरुषों ने तो इससे परे एक ऐसे परम तत्त्व को अभिव्यक्त किया है जिसके लिए उनका संदेश है–

एको हँसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।
(श्वेताश्वतर० ६/१५)

इस मन्त्र के द्रष्टा महर्षि की कितनी बड़ी खोज है। उनका संदेश है कि समस्त विश्व के मूल में एक ही परम चेतन तत्त्व परिव्याप्त है। कैसे? जैसे जल में अग्नि। जलगत अग्नि होते हुये भी जैसे सामान्य रूप से उसकी अनुभूति नहीं हो पाती, ठीक उसी प्रकार इस समस्त जड़–जगत् में सर्वत्र परम चेतन तत्त्व परिव्याप्त है किन्तु सहज रूप से उसकी अनुभूति नहीं होती। अब तो यह बात वैज्ञानिकों के अनुभव में भी आ गई है कि बर्फ के खण्डों में भी अग्नि तत्त्व विद्यमान है जबकि इनका गुण, स्वभाव तथा स्वरूप एक दूसरे से सर्वथा विरोधी तथा भिन्न है। ठीक इसी प्रकार से जड़ जगत् तथा उस परम चेतन के गुण,

स्वभाव तथा स्वरूप में तात्त्विक भिन्नता होते हुए भी वह इस जगत् में सर्वत्र परिपूर्ण है। इस सत्य को जानकर के ही जीवन की समस्त विभेदकारी समस्याओं का सुलझाव हो सकेगा अन्यथा दूसरा कोई उपाय नहीं।

विचारकों के मत वैविध्य के आधार रूप उस अनन्त की अनुभूति करने वाले ऋषि का संदेश है–

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

"एक ही सत् तत्त्व की व्याख्या सभी विचारक भिन्न–२ प्रकार से करते हैं"। माध्यम–वैविध्य से विचार–वैविध्य की अभिव्यक्ति हुई है, तत्त्वतः कोई भेद नहीं क्योंकि ऋषि की सत्यानुभूति है–

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

(श्वेताश्वतर० ६/११)

एक ही वह परम तत्त्व समस्त नाम–रूपों के मूल में निहित है, वही सर्वव्यापी, सब की अन्तरात्मा है। एक अन्य ऋषि की अनुभूति तो इसे और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर रही है–

पुरुष एवेद ँ् सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

(श्वेताश्वतर० ३/१५)

यह सब कुछ जो हो गया है तथा होगा, वह सब पुरुष ही है अर्थात् वह परम चेतन तत्त्व ही है। इन समस्त प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अतीत के महापुरुषों ने जीवन की इस पहेली को बूझने में पूर्ण साफल्य प्राप्त किया है तथा आने वाले मानव समाज को इस सत्य से परिचित भी कराया है कि–

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

(ईशा० ७)

वहाँ मोह कैसा, शोक भी कैसा, जहाँ सर्वत्र सर्वरूप में एकत्व की ही अनुभूति हो रही हो? इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि

अतीत की विस्मृति तथा अनागत की उपेक्षा से नहीं बल्कि जीवन के समस्त पहलुओं की जानकारी से ही भय तथा शोकहीन, शान्तियुक्त विश्राम की उपलब्धि हो सकती है, जो हमारे अन्तरतम की नित्य चाह है। इस बात का निश्चय हो जाने पर अब सामने एक आशा की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, जिसके प्रकाश में साहसयुक्त हो हम अपनी समस्याओं के सुलझाव की ओर आगे बढ़ सकते हैं।

केवल हमारे लिए ही नहीं बल्कि विश्व के प्रत्येक देश में अब यह आवाज़ बुलन्द होने लगी है (Back to Nature) "प्रकृति की ओर मुड़ो"। यह बात सत्य है कि मानव कभी भी प्राकृतिक प्राणी नहीं हो सकता। उसके जीवन की रचना ही इस प्रकार की है कि वह प्राकृतिक विधानों को उतना ही स्वीकार करना चाहता है जितना कि उसकी अनुकूलता में उपयोगी हो। किन्तु फिर भी हम स्वाधीनता की गवेषणा में इतने दूर भटक गए हैं कि आज उसका बिल्कुल विपरीत परिणाम हमारे जीवन में अपना स्थान जमा चुका है। हम चले थे स्वाधीनता की खोज में किन्तु पल्ले पड़ी पराधीनता। पूर्णता की प्राप्ति के प्रयत्नों ने ही जीवन को अभाव से अभिभूत कर दिया है। मृत्यु से बचने के लिए किए गए सारे प्रयत्नों ने हमें सर्वनाश की भट्टी में झोंक दिया है। हमारे अन्तरतम की चाह—नित्यता, पूर्णता, स्वाधीनता की पूर्ति के प्रयत्नों ने ही आज हमें मृत्यु, अभाव तथा परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ रखा है। तुलसीदास जी के शब्दों में—छूट न अधिक-२ अरुझाई। वाली उक्ति चरितार्थ हो रही है। जो कुछ भी हो हम अपनी आन्तरिक चाह को बिना परिपूर्ण किए मिटाने में समर्थ नहीं हो सकते। वर्तमान के क्रिया—कलापों द्वारा चाह की पूर्ति के आसार नज़र नहीं आ रहे हैं; अतः त्रिविध तापों से कराहते हुए मानव समाज को छटपटाने के सिवा और कोई चारा दिखाई नहीं

देता। वर्तमान की सारी उपलब्धियों का परिणाम तो यह है और अतीत की ओर हमारी रुचि नहीं, अनागत अभी अन्धकार में है, तो भला जीवन की समस्याओं के सुलझाव के लिए अब किस की पौरी पड़ा जाए? मेरी तो यह राय है कि हमें एक बार फिर से अपने अतीत के इतिहास तथा दर्शन के पन्नों को उलटना चाहिए, उसके द्वारा ही हमें प्रेरणा तथा सम्मति की उपलब्धि हो सकेगी अन्यथा और कोई उपाय नहीं।

यह तो ध्रुव सत्य है कि विजित जाति विजेताओं के आधीन रह कर अपने गौरवमय अतीत की गाथा नहीं गा सकती तथा विजेता कभी भी अपनी विजित जाति के गौरवमय अतीत का स्वागत नहीं कर सकता। भला विश्व की संस्कृति एवं सभ्यता में प्रमुख स्थान रखने वाले तथा विश्व के मानव को मानवता की सीख देने वाले भारतीय जन–जीवन के विकास पूर्ण गौरव युक्त अतीत की कहानी से कौन अपरिचित है? किन्तु जो भारत सहस्त्राब्दियों तक विश्व के मनुष्यों को आत्मीयता तथा प्रियता के आधारभूत 'शान्तं शिवं अद्वैतं' की सीख देता रहा, वही काल के आघातों से प्रताड़ित हो वा अनुकूलता के उपभोग में आसक्त हो, अपनी दिव्य यज्ञमय जीवन प्रणाली को खो बैठा है, जिसके परिणामस्वरूप उसके दिव्य देवभाव तथा संगठन के सूत्र प्रायः छिन्न–भिन्न हो गये, परिणामतः सदियों तक परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ा रहा। जिनको उसने सदियों तक जीवन में जीने की कला की सीख दी थी, भस्मासुर की भांति वही उस पर हावी हो गये।

भारत की इस दुर्दशा का विनाशकारी प्रभाव केवल भारतीयों के लिए ही नहीं, बल्कि विश्व की समस्त मानव जाति के लिए घातक सिद्ध हुआ है। हृदय ही शरीर के समस्त अंगों को शुद्ध रक्त प्रदान करता है। यदि उसी में विकार पैदा हो जाये तो सारे

शरीर के विनाश की सम्भावना में आशंका कैसी! सदियों तक संघर्ष तथा परतन्त्रता के कारण हम भारतीयों की चेतना लुप्त प्रायः हो गई है। विजित होने के नाते हमारे अध्यात्मवादी महान् सिद्धान्तों के प्रति जहाँ दूसरों को घृणा हुई वहाँ हम भी उसमें हीनता का अनुभव करने लगे हैं। आँख की पीलिया का दोषारोपण चन्द्र की धवल चन्द्रिका पर करते हुए हमने उससे मुख मोड़ने की वृति अपनाई है जिसके परिणामस्वरूप युगों की पाली हुई आस्था की बलि देकर हम अपने विजेताओं द्वारा लाई गई पैशाची प्रवृत्तियों की पूजा में अनुरक्त हो गए हैं जबकि उससे प्रतिपल जीवन में भय तथा चिन्ता से युक्त निराशा की ही अभिवृद्धि होती जा रही है।

मुझे विश्वास है कि उस अनन्त अदृश्य शक्ति की महती अनुकम्पा से स्वाधीन भारत पुनः अब अपने परमोज्ज्वल अतीत की उपलब्धियों द्वारा विश्व की मानवता को जागृत कर इन विनाशकारी प्रवृत्तियों का अन्त कर सकेगा, किन्तु यह सौभाग्य उसे उसके अतीत के प्रकाश में ही प्राप्त हो सकता है, अन्धानुकरण द्वारा नहीं।

ॐ

जीवन का आधार

जीवन में जीने की कला को जानने के लिये प्रत्येक व्यक्ति लालायित है: क्योंकि अनेक प्रकार की मनमुखी क्रियाओं के द्वारा दिनों–दिन संताप का ही संग्रह हो रहा है, यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने जीवन का अनुभव है। कल मैंने विचार किया था कि इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए हम भारतीयों को अपने अतीत के द्वार खटखटाने के अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय दिखाई नहीं दे रहा। वर्तमान में जीवन के नहीं बल्कि जीविका के सुखमय साधनों की उपलब्धियाँ हमें संताप मुक्त नहीं कर सकी हैं। जीविका के क्षेत्र में दिनों–दिन जितनी अधिक भौतिक विकास की वृद्धि हो रही है; कामनाओं से परिपीड़ित हो जीवन के क्षेत्र में उतना ही भय तथा चिन्ता युक्त निराशा का आधिपत्य बढ़ता जा रहा है। अतः अब हमें अतीत की उपलब्धियों को, अनुभव के आधार पर संतापहीन जीवन की प्रतिष्ठा के लिए आदर्श के रूप में स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई उत्तम साधन प्रतीत नहीं होता।

स्वदेशी तथा विदेशी सभी विचारक एक मत होकर इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इस धरा–धाम पर सर्वप्रथम सर्वोत्कृष्ट, सर्वजनोपयोगी जीवन–दर्शन का प्रादुर्भाव वैदिक वाङ्मय के रूप में भारतवर्ष के इस पुनीत क्षेत्र में ही हुआ है। विश्व की समस्त संस्कृतियों को आलोक प्रदान करने वाली भारतीय संस्कृति को ही सृष्टि में सर्वप्रथम आदर्शरूप में प्रतिष्ठित होने का सौभाग्य

प्राप्त है। मानव समाज को सुव्यवस्थित जीवन–प्रणाली की सीख देने वाली धर्मनीति की मार्ग दर्शिका उस मनुःस्मृति का भी प्रादुर्भाव आचार–संहिता के रूप में सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। मानव समाज को सृष्टि के कार्य–कारण सम्बन्धों तथा सूक्ष्मतम तत्त्वों को समझने के लिए सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा आदि दर्शनों के माध्यम से सूक्ष्मतम दर्शन–दृष्टि की अभिव्यक्ति भी भारत की ही देन है। इतना ही नहीं बल्कि जीवन की प्रत्येक क्रिया में आधार रूप से रहने वाली भावना तथा उसके कारण रूप ज्ञान सामञ्जस्य की अवबोधिका तथा जीवन के सर्वांगीण उत्थान की आधारभूता ज्ञानयोग और कर्मयोग की वह द्विविध दिव्य निष्ठा एवं उनके द्वारा साध्य रूप से प्राप्त होने वाली 'शान्तं शिवं अद्वैतं' की परमोच्च स्थिति की प्रतिष्ठा का संदेश देने वाली 'सर्वभूतहितेरताः' की प्रेरणा प्रदायिनी, जगद्वन्दनीया श्रीमद्भगवद्गीता के आविर्भाव का भी गौरव इसी सौभाग्यशाली पुनीत भारत भूमि को ही प्राप्त हुआ है। अतीत की इन समस्त गौरवयुक्त गाथाओं को ताक पर रख कर हम वर्तमान की समस्याओं को सुलझाना चाहते हैं, यह कितनी हमारी प्रवञ्चनामय प्रवृत्ति है।

कुछ लोगों का मत है कि युग बदल गये, जीवन की समस्त प्रक्रियाओं में भी महान् परिवर्तन आ चुका है। इस वैज्ञानिक युग में आदिम युग के राग अलापना निरर्थक तथा बेतुकी बात होगी। कुछ लोगों का मत है कि युग परिवर्तन के साथ–२ मानव जीवन की अवस्थाओं में भी परिवर्तन आता रहता है। यदि परिवर्तित अवस्था में भी पूर्व की व्यवस्थाप्रद प्रणालियों को ही अपनाने की प्रक्रिया को प्रतिष्ठित करने का दुराग्रह किया जाये तो यह बुद्धि के दीवालियापन का ही प्रतीक होगा। पूर्व की तत्कालीन अवस्थाओं में वे व्यवस्था प्रणालियाँ भले ही उपयोगी

रही हों, किन्तु इस वैज्ञानिक युग में किञ्चिन्मात्र भी उनकी उपयोगिता नहीं। अब तो उन्हें अजायबघर की प्रदर्शनी में ही स्थान प्राप्त होना चाहिए।

हम देख रहे हैं कि नवीन समाज की रचना के लिए नवीनतम विचारधाराओं की खोज में आज का नवीन मानव दर–दर कितनी ठोकरें खा रहा है; किन्तु सामाजिक सुव्यवस्था के लिए विश्व की हाट में बिकने वाले सभी विभिन्न प्रकार के वाद रूपी नये नुस्खे अब तक नाकामयाब सिद्ध हुए हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में व्याप्त अव्यवस्था की वृद्धि दिनोंदिन हमें सर्वनाश की ओर ले जा रही है। प्रत्येक देश की परिधि में रहने वाला प्राणी आज विनाश के भय से आकुल हो जीवन की आशा में अति चिन्तित है; किन्तु उसके लिए कोई उचित उपाय अभी तक हाथ नहीं आ रहा।

मेरा तो यह मत है कि इस जगत् में जीवन सम्बन्धी तत्त्वों में न तो कभी अभिवृद्धि होती है और न ही अभाव। जीवन के क्षेत्र में सृष्टि के प्रारम्भ से ही उन्हीं समान तत्त्वों की प्रतिष्ठा है जोकि अव्यय, अविनाशी तथा नित्य हैं। अतः जीवन तत्त्व में परिवर्तन की कल्पना प्रमाद के सिवा और कुछ नहीं। हाँ परिवर्तन की प्रक्रिया का सम्बन्ध जीविका के साथ अवश्य है, किन्तु जीविका और जीवन ये दोनों नितान्त भिन्न–२ तत्त्व हैं। जीविका के परिवर्तन से जीवन तत्त्व में परिवर्तन की कल्पना केवल बुद्धि–भ्रान्ति की ही परिचायिका कही जायेगी।

आश्चर्य तो यह होता है कि आज के सुशिक्षित कहे जाने वाले मानव समाज में अपवाद रूप से कतिपय व्यक्तियों को छोड़कर अधिकांश लोग जीवन तथा जीविका के भेद को भी समझ नहीं पा रहे हैं। मुख्य कारण तो यही है कि हम भोग्य–भोक्ता, दृश्य–द्रष्टा, देह–देही, क्षर–अक्षर, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ तथा इस समस्त

द्वन्दों के आधार रूप प्रकृति–पुरुष के भेद को नहीं जानते और जब तक इस जीवन तथा तत्सम्बन्धी जड़ पदार्थों के आधार रूप पुरुष–प्रकृति के सूक्ष्मतम स्वरूप का बोध न हो जाये तब तक जीवन तथा जीविका के संबंध में अनिश्चित बुद्धि द्वारा अपनाये गये सामाजिक सुव्यवस्था के सभी उपाय व्यर्थ सिद्ध होते रहेंगे।

विश्व में फैले हुए अनेक वादों के जन्मदाता पाश्चात्य दार्शनिक अधिकांशतः जीवन की इस समस्या को कि चेतन का आधार जड़ है वा जड़ का आधार चेतन अथवा दोनों एक के ही अवस्था भेद हैं वा इन दोनों का अपना भिन्न–२ अस्तित्व है; सुलझाने में असफल ही रहे हैं; और जब तक इस समस्या को सही रूप में सुलझाया न जा सकेगा तब तक व्यक्ति वा समाज के जीवन की सुव्यवस्था का विधान कोरी कल्पना मात्र ही होगा।

आज तक के जितने वाद हैं, उन सब के जन्मदाताओं ने मानव जीवन की रचना के विषय में कुछ न कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है। वे इस विषय में कहाँ तक सफल हुए हैं, यह हमारे आज के विचार का विषय नहीं, किन्तु इतनी बात तो अवश्य ही कहनी होगी कि भारत के प्राचीन विचारकों की सृष्टि–प्रक्रिया के निरूपण की तुलना में उनके निरूपण का स्थान तर्कहीन, अस्पष्ट तथा नगण्य है।

प्रत्येक पदार्थ के कार्य–कारण सम्बन्ध की अनुसन्धानशाला में प्रत्यक्ष अनुभव करने की अभिलाषा से प्रवृत्त भौतिक विज्ञान के पुजारियों की भी खोज इस विषय में अभी तक अनिश्चित ही रही है। आगे वे इस पद्धति से चित चेतन के रहस्यमय सूक्ष्मतम भेद को जानने में सफल होंगे या नहीं इस विषय में भी अभी हमें कुछ नहीं कहना है। किन्तु उपनिषद् की यह घोषणा सर्वथा सत्य है कि–

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

उस जानने वाले को किसके द्वारा जानें? अर्थात् खोज के माध्यम रूप इन प्रयोगशालाओं के द्वारा क्या कभी उस खोज करने वाले की भी खोज हो सकेगी; यह एक विचारणीय विषय है। जैसे हमारी इन्द्रियों के द्वारा यथार्थ रूप में किसी भी दृश्य पदार्थ के स्वरूप का सही बोध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार से इन वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं के माध्यम से भी सृष्टि के मूल पदार्थों तथा उनके कार्य–कारण सम्बन्धों का निर्विकार बोध प्राप्त करना कठिन ही नहीं बल्कि सर्वथा असम्भव है।

वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में जब किसी परीक्ष्य पदार्थ के परीक्षण में प्रवृत्त होता है तो उसके लिए उसे किसी यन्त्र का सहारा लेना पड़ता है और उसके साथ–२ प्रकाश, विद्युत या उष्णता का भी थोड़ी बहुत मात्रा में प्रयोग करना पड़ता है। उस के प्रयोग का यह परिणाम होता है कि उस परीक्ष्य पदार्थ के यथार्थ रूप का अनुशीलन नहीं हो पाता क्योंकि प्रकाश, विद्युत वा गर्मी की न्यूनतम मात्रा भी पास आते ही उस परीक्ष्य पदार्थ के सहज स्वरूप को विकृत कर देती है जिससे कि उसके सही रूप की जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती। इसलिए मैंने पूर्व में कहा है कि आज का वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालाओं के माध्यम से सृष्टि के आधारभूत मूल तत्त्वों को निर्विकार रूप से नहीं जान सकता। इससे मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि विज्ञान की उपलब्धियाँ सारी की सारी मिथ्या एवं भ्रमपूर्ण हैं। इस विषय में जब मैं यह कहता हूँ कि विज्ञान के द्वारा सृष्टि के मूल पदार्थों का निर्विकार बोध प्राप्त नहीं हो सकता तो उसका संकेत केवल सृष्टि के उस मूल हेतु की तरफ होता है जहाँ से जीव तथा जगत् की अभिव्यक्ति का प्रारम्भ है।

आज का वैज्ञानिक इस उलझन में पड़ गया है कि जीवन इस जगत् के पदार्थों के रासायनिक परिवर्तन का ही

परिणाम है वा इससे भिन्न इसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता भी है क्योंकि प्राकृतिक पदार्थों के जिस अवस्था–विशेष में जीवन तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, वह इतना सूक्ष्म तथा रहस्यमय है जिससे एकाएक यह अनुमान लगाना कि यह इसी का परिणाम है वा इसके माध्यम से अभिव्यक्त हुआ इससे कोई भिन्न तत्त्व, कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव सा हो जाता है। इस अवस्था में यह विषय विज्ञान की अनुसन्धानशाला की परिधि से परे चला जाता है, क्योंकि परीक्षण के आधारभूत सारे के सारे यन्त्र पार्थिव हैं और पार्थिव होने के नाते वे सदैव किसी देश, काल तथा परिस्थिति की सीमा में आबद्ध रहते हैं एवं उनका अपना कुछ गुण, स्वभाव, स्वरूप भी निश्चित होता है; अतः उनके द्वारा उस ज्ञानमय अनन्त चेतन तत्त्व को जानने की प्रक्रिया ही प्रयोजन हीन हो जाती है; क्योंकि जो परीक्षक इन समस्त पदार्थों का परीक्षण कर रहा है अथवा जिस ज्ञाता को इन समस्त पदार्थों के परिवर्तित स्वरूपों का तथा उनके कार्य–कारण सम्बन्धों का अनुभव होता है, उसकी जानकारी इनके द्वारा भला कैसे प्राप्त हो सकती है? यद्यपि हमारा विषय विज्ञान नहीं दर्शन है, फिर भी उदाहरण के लिए यहाँ एक छोटे से विषय को लेकर हमें वैज्ञानिक दृष्टि से समझना असंगत नहीं होगा।

रसायनशास्त्र के कुछ विद्वानों ने बड़ी खोज के पश्चात् अब इस बात का दावा किया है कि यह चेतन तत्त्व प्राकृतिक पदार्थों का ही परिणाम है और उसे प्रमाणित करने के लिए उन्होंने एक कृत्रिम (artificial) गर्भाशय (Womb) की रचना कर उसमें (by injection) इन्जैक्शन के माध्यम से पुरुष के वीर्य का आरोपण किया तथा जैसे नारी के शरीर द्वारा निर्मित रासायनिक तत्त्व उस के गर्भस्थ अर्भ (भ्रूण) की वृद्धि के लिए प्राकृतिक विधान से प्राप्त होते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार उन्होंने कृत्रिम

गर्भाशय में भी रासायनिक तत्त्वों को पहुँचाया। परिणाम स्वरूप निश्चित अवधि में एक शिशु का जन्म हुआ जो कुछ क्षण जीवित रहने के पश्चात् चेतना शून्य हो गया। इसका पूर्ण विवरण (Life) नाम की पत्रिका के ६ जुलाई १९६६ के अंक में प्रकाशित हुआ था। इस परीक्षण के परिणाम स्वरूप वैज्ञानिकों ने यह निश्चय कर लिया है कि जीवन का आधार रासायनिक तत्त्वों के सिवा और कुछ भी नहीं है।

वैज्ञानिकों की इस खोज की सफलता के लिए वे बधाई के पात्र हैं क्योंकि यह घटना सामान्य नहीं, इसने सृष्टि के प्रबुद्ध प्राणी मानव को आश्चर्य चकित कर दिया है; किन्तु यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि रासायनिक परिवर्तन के जिस अवस्था–विशेष में चेतन की अभिव्यक्ति होती है, उसके रहते हुये भी उसमें से उसका अभाव क्यों हो जाता है?

इससे पहले कि इस विषय की छानबीन की जाये, यह बात हमें ध्यान में रखनी होगी कि जिन कृत्रिम उपायों से वैज्ञानिकों ने शिशु को जन्म दिया है, उनमें कारण रूप से रहने वाला यह वीर्य अकृत्रिम अथवा पौरुषेय ही था। यद्यपि अब आगे उनकी प्रवृत्ति कृत्रिम पुरुष वीर्य के निर्माण में हुई है, इसमें वे सफल होंगे या नहीं होंगे, यह तो भविष्य ही बतायेगा। यदि सफल हो भी जायें तो भी जीवन सम्बन्धी उस प्रश्न का हल यह नहीं माना जा सकता कि जीवन तत्त्व प्राकृतिक पदार्थों का ही परिणाम है।

हाँ तो हमें थोड़ा अब इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना चाहिए कि जीवन के हेतु भूत रासायनिक पदार्थों की उपस्थिति में भी जीवन का अभाव क्यों हो जाता है? वैसे तो अभी तक इस प्रश्न के उत्तर में वैज्ञानिक मौन ही रहे हैं तथापि इस रहस्य को ढूँढ निकालने के लिये पूर्णतः प्रयत्नशील हैं। यह इतना उलझन

भरा प्रश्न है कि स्पष्ट रूप से इसका कुछ उत्तर अभी तक बन नहीं पा रहा। भौतिकवाद की दृष्टि से पदार्थों के परिणाम से ही चेतना की अभिव्यक्ति हो जाती है; इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह चेतन, ज्ञान जिसका सहज स्वभाव है, पदार्थों में ही निहित है अथवा पदार्थों का ही धर्म (Property) है। यह बात सत्य है कि धर्म कभी किसी भी अवस्था में अपने धर्मी से अलग नहीं हो सकता, जैसे अग्नि से दाह, सूर्य से प्रकाश, चन्द्र से चांदनी तथा विद्युत से शक्ति। अब यह बात विचारणीय है कि किसी भी अवस्था में जब धर्म अपने धर्मी से अलग नहीं हो सकता, अग्नि के छोटे से छोटे कण में उसका धर्म रूप दाह बना ही रहता है, विद्युत के छोटे से छोटे कण में उसकी धर्म रूपी शक्ति बनी ही रहती है, तो यह सम्भव कैसे हो सकता है कि मूल रूप से पदार्थों के रहते हुए भी उसके धर्म रूपी चेतन तत्त्व का सर्वथा अभाव हो जाये? अतः इससे यह सिद्ध होता है कि प्राकृतिक पदार्थ चेतन तत्त्व के कारण नहीं हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि रासायनिक परिवर्तन के उस सत्त्वमूल अवस्था में जिसे दूसरी भाषा में (Protoplasm) कहते हैं, सर्वप्रथम जीवन तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और प्राणी जगत् में जीव कोष्ठ (cells) के संघात से ही छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े शरीर की रचना होती है, जिसमें सबसे छोटा एक कोष्ठ का प्राणी 'अमीबा' है। अब इसमें विचारणीय बात यह है कि यदि रासायनिक तत्त्वों में ही जीवन–शक्ति है और उनके परिवर्तित अवस्था विशेष से ही इस जीवन तत्त्व की अभिव्यक्ति हो जाती है तो क्या कारण है कि रासायनिक तत्त्वों के होते हुये वह सूक्ष्मतम जीव कोष्ठ भी जीवन तत्त्व से रहित हो जाता है, जिसे मृत कोष्ठ या Dead Cell कहते हैं? यदि यह कहा जाये कि उसमें सूक्ष्मतम रासायनिक कुछ मिश्रित पदार्थ ऐसे थे, जिनके गतिशील

स्वभाव से आवश्यक मात्रा की न्यूनता होने के कारण जीवन तत्त्व उसमें से लुप्त हो गया तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि जीवन तत्त्व पदार्थों का अपना धर्म नहीं (Property) बल्कि उन मात्रा विशेष के संघात की अवस्था में उनमें से उत्पन्न होता है। अब इससे यह बात सर्वथा तर्कहीन तथा असंगत प्रतीत होती है कि कई जड़ पदार्थों के सम्मिश्रण से चेतना की उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार जो वस्तु कारण रूप में विद्यमान नहीं है उसकी कार्य रूप में कभी भी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

इन समस्त विवेचनों का निष्कर्ष यह निकला कि भौतिक-वाद का सिद्धान्त कि पदार्थ ही जीवन का कारण है, सर्वथा असंगत तथा संदिग्ध है, जो अपने में इस संदेह निवृत्ति के लिए वैज्ञानिकों के द्वारा और अधिक खोज की अपेक्षा रखता है; किन्तु इस सम्बन्ध में मेरा यह निश्चित मत है कि इसके आगे का विषय विज्ञान की परिधि से परे दर्शनशास्त्र का विवेच्य है। जैसा कि किसी अन्य विचारक का मत है कि कला का उद्देश्य है प्रकृति की नकल करना, जबकि विज्ञान का उसके भौतिक पहलु पर नियन्त्रण करना और दर्शन का उद्देश्य है उसकी अतिभौतिक अवस्थाओं को जानना एवं वहाँ पहुँचना जहाँ भौतिकता का अन्त होता है।

प्राकृतिक पदार्थों को माध्यम बना कर कृत्रिम उपकरणों द्वारा किये गये अनुसन्धान की प्रक्रिया का परिणाम अप्राकृतिक तत्त्व का बोध नहीं हो सकता। उपरोक्त विवेचना में विज्ञान सम्बन्धित जिन विषयों पर विचार किया गया है, उनका अभिप्राय विज्ञान की आलोचना नहीं बल्कि उसके तथ्यात्मक पहलुओं को प्रस्तुत करना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विज्ञान जगत् ने अपने क्षेत्र में आश्चर्यप्रद प्रगति की है। वह प्राकृतिक पदार्थों के

कार्य–कारण सम्बन्ध को समझने में बहुत कुछ सफल हुआ है। इतना ही नहीं जो बातें सामान्य मनुष्य की कल्पना में भी नहीं आ सकती थी उनको उसने अपनी आश्चर्यप्रद खोज की प्रक्रिया से प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित कर दिया है यह बात और है कि यदि इस विज्ञान की धारा के प्रवाह को उचित दिशा प्रदान की गई होती तो यह मानव ही नहीं जगत् के अन्य प्राणियों के लिये भी ईश्वरीय वरदान के रूप में सिद्ध हो सकता था; किन्तु वर्तमान में उसने ऐसा मार्ग अपना लिया है कि विकास के नाम पर सम्पूर्ण सृष्टि को आज विनाश के किनारे पर ला पटका है। इसलिए वर्तमान में विज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरूप मानव अपनी ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि के विनाश के भय की आशंका से आकुल हो उससे त्राण पाने की चिन्ता में सतत निमग्न है। सारांशतः मानव को मृत्यु के भय से मुक्त कर जीवन की लालसा को पूर्ण करने के लिए वैज्ञानिकों द्वारा अपनाई गई प्राकृतिक पदार्थों की विकासमय प्रक्रिया का अवलम्बन सर्वथा अनुपयोगी ही सिद्ध होगा क्योंकि जीवन तथा मृत्यु के रहस्यमय सम्बन्धों को समझना विज्ञान की सीमा से परे की बात है। अतः इस विज्ञानवाद के आधार पर प्रतिष्ठित जीवन सम्बन्धी समस्त सिद्धान्त अधूरे, असंगत तथा अस्पष्ट ही रह जाते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपने में एक विशिष्ट गुण रखता है। अतः उपयोगिता की दृष्टि से सभी का एक विशेष स्थान है। हर एक पदार्थ हर एक व्यक्ति के लिए हर एक अवस्था में उपयोगी नहीं हो सकता। एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिए ग्राह्य तथा उपयोगी हो सकती है जबकि उसी देश, काल, परिस्थिति में दूसरे के लिए अग्राह्य तथा अनुपयोगी। कौन सा पदार्थ, किस अवस्था में कब, किसके लिये कितना उपयोगी होगा इस तथ्य को जानकर ही समस्त गुणदोषमय

पदार्थों का ग्रहण वा त्याग करना उचित होता है। क्योंकि किसी भी पदार्थ का उचित उपयोग तभी किया जा सकता है जबकि उसके गुण–दोष का सही ज्ञान प्राप्त हो।

कोई पदार्थ हमारे लिए उपयोगी है या अनुपयोगी यह उसके विषय में निश्चित रूप से तब तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता जब तक कि उस की अवस्था तथा तदगत गुण, स्वभाव की पूरी जानकारी न हो जाये क्योंकि–

संग्रह त्याग न बिनु पहचाने।

दिव्य प्रज्ञा प्राप्त सत्यान्वेषी सभी चिन्तकों ने एक मत होकर इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि यह प्राकृत प्रपंच रूप विराट् विश्व गुण तथा दोषमय पदार्थों का ही संघात है, वह सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक सृष्टि के रूप में गुणागुण तत्त्वों की ही अभिव्यक्ति है।

बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।

अतः किसी वस्तु के उपयोगी वा अनुपयोगी गुण–दोषमय स्वरूप को पहचाने बिना उसके संग्रह वा त्याग के विषय में सही दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता।

जिस प्रकार गुण–दोष की जानकारी के अभाव में पदार्थ का उपयोग कभी भी हितप्रद नहीं होता, ठीक उसी प्रकार हमें जीवन तथा तत्सम्बन्धित गुण–स्वभावयुक्त जागतिक विषयों के सम्बन्ध में जब तक उचित बोध प्राप्त नहीं होगा तब तक सुव्यवस्था के लिए उसके द्वारा प्रयुक्त क्रियाओं से कभी भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकेगी।

तत्त्व चिन्तक अध्यात्मवादी दार्शनिकों के सिद्धान्तानुसार व्यक्ति तथा उससे सम्बन्धित संसार के मूल रूप में विकृति युक्त प्रकृति तथा चेतन तत्त्व पुरुष का संयोग ही कारण है। जब तक इनके विषय में विश्लेषणात्मक सही बोध प्राप्त नहीं हो जाये, तब तक मानव किसी भी प्रकार के क्रिया–कलाप द्वारा व्यक्ति, जाति,

समाज वा राष्ट्र के जीवन की सुव्यवस्था को प्रतिष्ठित नहीं कर सकता क्योंकि हमारी प्रत्येक क्रिया का आधार भाव है और भाव का आधार ज्ञान। वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में जिस प्रकार का ज्ञान हमें होगा तदनुसार ही हमारी भावना बनेगी और उस भाव प्रेरित अवस्था में तदनुसार ही कर्म में प्रवृत्ति होगी। अतः जीवन की व्यवस्था के लिए सदभाव युक्त सुकर्म सम्पादन में सही ज्ञान का होना अति आवश्यक है।

प्रकृति के प्रथम परिणाम रूप चित के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली चेतन सत्ता ही पुरुष वा व्यष्टि भावापन्न जीवात्मा के नाम से अभिहित है। अतः जब तक पुरुष तथा प्रकृति के विकार युक्त परिणामों को एवं उनके सम्बन्धों को वास्तविक रूप में नहीं जाना जाता तब तक जीवन में अपनाये गये विकास के सारे विधि–विधान अधूरे तथा अनुपयोगी ही सिद्ध होंगे।

वह सही ज्ञान क्या है, जिसके द्वारा मानव प्राकृत प्रपन्चों से पृथक हो स्वधर्म का पालन करता हुआ संसृत संस्कारों से मुक्त हो सदा के लिये स्वाधीन हो जाये? इस जिज्ञासा की पूर्ति में गीतानाथ का संदेश है–

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।

(गीता १३/२)

मेरे मतानुसार, क्षेज्ञ–क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही वह सत्य ज्ञान है जिसके द्वारा मानव अनासक्त हो लोक संग्रहार्थ स्वधर्म का पालन करता हुआ, प्राकृतिक प्रपन्चों से मुक्त हो सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। इसी को गीता के दूसरे अध्याय के २०वें श्लोक में देह–देही, शरीर–शरीरी, सातवें के पाँचवें श्लोक में अपरा–परा, पन्द्रहवें के १६ में क्षर–अक्षर तथा इन समस्त कार्यों के कारण

रूप में अवस्थित तत्त्व को १३वें अध्याय के १९ श्लोक में प्रकृति पुरुष नाम से वर्णन किया गया है। इनके रहस्यमय तत्त्व भेद को

जानने वाला ज्ञानी ही वास्तव में ज्ञानी है।

इस प्रकार के तत्त्व ज्ञान को प्राप्त हुए मनीषी पुरुषों के विषय में भगवान् कृष्ण का सन्देश है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।

(गीता १३/२३)

अर्थात् जो पुरुष (चेतन) को तथा गुणों सहित प्रकृति (जड़) के स्वरूप को तत्त्वतः जान लेता है वह इस जगत् में सब प्रकार से बर्तता हुआ अर्थात् सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी जन्म—मरण के आधार रूप कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है अर्थात् पुनः प्रकृति के वश होकर संसार चक्र में नहीं आता।

समस्त कर्मों को करते हुए भी उसके फलस्वरूप राग द्वेषादि सुखदुखमय भोगों से मुक्त होना किस प्रकार सम्भव है, इस विषय में भगवान् का संदेश है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।

(गीता १३/२६)

अर्थात् जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से विकृतिमय प्रकृति के स्वाभाविक गुणों द्वारा ही किये हुए जानता है तथा अपने आप (आत्मा) को अनादि और अविकारी होने के कारण अकर्त्ता रूप में देखता अर्थात् अनुभव करता है, वही वास्तव में सत्यद्रष्टा (आत्मज्ञानी) है। इस अवस्था में सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य—कारण भेद को जानने वाला तत्त्वज्ञ सदा अपने आप को उनसे भिन्न समझता हुआ जगत् के किसी भी अवस्था व्यवस्था में आसक्त तथा अशान्त नहीं होता, क्योंकि—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।
(गीता ३/२८)

हे महाबाहो ! सत्, रज, तम, गुण तथा तदुत्पन्न भावों के अनुसार होने वाली त्रिविध क्रियाओं के रहस्य को जानने वाला तत्त्वज्ञानी "गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं", ऐसा समझ किसी भी क्रिया तथा उसके परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले अनुकूल वा प्रतिकूल फलों में आसक्त नहीं होता।

इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त करने के लिए तत्त्व–ज्ञान की उपलब्धि परम आवश्यक है, उसकी प्राप्ति कब तथा किस अवस्था में होगी, इस विषम में भी गीता का संदेश है–

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।
(गीता २/५२)

अर्थात् जब तेरी बुद्धि मोह रूपी दलदल से पूर्णतया पार हो जायेगी, तब तू सुने हुये तथा सुनने योग्य समस्त कर्मफलासक्ति रूप विषयों से विरक्त हो जायेगा क्योंकि–

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।
(गीता २/५३)

अर्थात् अविपश्चित बुद्धि वाले शास्त्रज्ञों के द्वारा विभिन्न प्रकार के सुख सम्पादनार्थ सकाम कर्मभावोत्पादक विभिन्न शास्त्रों के श्रवण करने से विचलित (भ्रमित) हुई तेरी बुद्धि जब उनके सारहीन अश्रेयस्कर परिणामों को जान उनसे उपरत हो वासना–रहित शुद्ध सात्त्विक स्वरूप समाधि में अचल भाव से प्रतिष्ठित हो जायेगी तब तू सदसद् विवेक द्वारा निश्चित समत्व

योग को प्राप्त होगा अर्थात् निर्वासनिक हो 'सर्वभूतहितेरताः' की

दृष्टि से साम्यभाव युक्त व्यवहार करने में पूर्णतया कुशल होगा।

यहाँ पर "समाधौ अचला बुद्धि" समाधि द्वारा प्राप्त हुई निश्चल बुद्धि ही 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् अनासक्त हो लोक संग्रहार्थ कार्य कर्मों का सम्पादन रूप समत्वयोग की आधारभूता कही गई है। इस निश्चल बुद्धि को जिसे 'प्रतिष्ठित प्रज्ञा' के नाम से अभिहित किया गया है, कैसे प्राप्त किया जाये, इस विषय में गीता के छठे अध्याय में 'आत्मसंयमयोग' का संदेश देते हुए कहा गया है –

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंञ्चिदपि चिन्तयेत्।।
(गीता ६/२५)

अर्थात् इन्द्रियों के विषयवर्जन रूप प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर धारणायुक्त बुद्धि द्वारा धीरे–धीरे बहिर्मुखी समस्त वृत्तियों का समाहार कर सुखमय साधनों की आसक्ति से रहित होवे और मन के प्रवाह को जीवन के आधार रूप उस परम चेतन (आत्म) तत्त्व के दिव्य भाव में स्थित कर प्रशान्त चित्त हो उससे भिन्न कुछ भी चिन्तन न करे। क्योंकि जब तक बाह्य जगत् में किसी भी व्यक्ति व वस्तु का किसी भी भाव से चिन्तन बना रहेगा तब तक बुद्धि का स्थिर होना कठिन ही नहीं बल्कि सर्वथा असम्भव है।

जब सामान्य जागतिक बुद्धि की क्रिया–कलापों का सम्पूर्ण रूपेण अन्त हो जायेगा, उसी अवस्था में सत्यासत्य विवेक युक्त प्रज्ञा का उदय होगा। यथा महर्षि पतञ्जलि का सन्देश है–

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।
ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।
(यो० सू० १/४७, ४८)

विक्षेप रहित पूर्ण निर्विचार की अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रशान्त विशुद्ध चित्त में बोधमय चेतन की सत्त्वानुभूति के प्रसाद स्वरूप 'ऋतम्भरा' (ऋतं सत्यं भरति इति ऋतम्भरा) अर्थात् "ऋत सत्य से परिपूरित प्रज्ञा" का उदय होता है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा की महिमा का गान करते हुये महर्षि जी ने आगे कहा है–

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

(यो० सू० १/४६)

अर्थात् यह प्रज्ञा विशेष लक्ष्य से युक्त होने के कारण विश्व के समस्त श्रुत तथा अनुमित दृश्य पदार्थों को विषय करने वाली प्रज्ञाओं से अन्य, द्रष्टा रूप आत्म तत्त्व को विषय करने वाली है। कहने का अभिप्राय शास्त्रजन्य श्रुत ज्ञान तथा तदाधारित अनुमित ज्ञान, ये दोनों सृष्टि के दृश्य पदार्थ को ही अपना विषय बनाते हैं; किन्तु यह ऋतम्भरा प्रज्ञा इन समस्त दृश्यों से उपरत हुए चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध हो जाने के पश्चात शुद्ध चेतन के प्रकाश में आविर्भूत हुई उसी को विषय करने वाली अर्थात् आत्म तत्त्व की अवबोधिका होने से सर्वोपरि तथा श्रेष्ठ है क्योंकि :–

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।

(यो० सू० १/५०)

अर्थात् आत्म तत्त्व की अवबोधिका ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न हुये संस्कार, समस्त जागतिक संस्कारों के प्रतिबन्ध अथवा अवरोधक होते हैं। परिणाम में जैसे काष्ठ से प्रकट हुई अग्नि काष्ठ समूह को आत्मसात कर आप भी स्वतः शान्त हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जागतिक समस्त संस्कारों का अवरोध कर इस प्रज्ञा के संस्कार भी स्वयं शान्त हो जाते हैं।

समस्त संस्कारों से शून्य चित्त की इस अवस्था को निर्बीज समाधि के नाम से अभिहित किया गया है। निर्बीज

अर्थात् संस्कार रहित चित्त के माध्यम से ही स्वात्मरति, तृप्ति तथा पूर्ण तुष्टि रूप 'शान्तं शिवं अद्वैतं' की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। तत्तत्प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ पुरुष ही आप्तकाम पूर्ण पुरुष कहा जाता है। ऐसे प्रत्यक्षीकृत–धर्मा महापुरुष ही परमर्षि तथा अवतार के रूप में समाज में परिपूजित होते हैं। उन आप्तपुरुषों की 'नीरक्षीर विवरण गतिहंसीवत्' सत्यासत्य विवेक युक्त वाणी ही मानव समाज के जीवन की सुव्यवस्था के प्रतिपादक शास्त्र रूप में प्रमाणिक होती है। ऐसे तत्त्वज्ञ आप्तपुरुषों द्वारा सदासद् विवेचनी प्रज्ञा से प्रयुक्त जीवन में जीने की कला के सम्बन्ध में, जो भी कुछ विधान निश्चित किया जाए वही हमारे लिए ग्राह्य तथा हितप्रद हो सकता है। क्योंकि आध्यात्मिक विचारधारा में सत्यासत्य विवेक युक्त बुद्धि ही जीवनोपयोगी विधान की विधायिका हो मानव के लिए गति तथा निर्माण का मार्ग प्रशस्त करती है।

ॐ

दर्शन तथा विज्ञान

जीने की कला को जानने की अभिलाषा से प्रेरित हो उसकी पूर्ति के लिए प्रवृत्त हुये हमारे इस विचार–क्रम का यह तीसरा चरण है। वर्तमान में प्रचलित वादों की आधारभूता जीवन तथा जगत् से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं की आलोचना तथा उसके सारांशभूत सिद्धान्तों का दिग्दर्शन करते हुये हम अपने इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वर्तमान के प्रचलित जीवन शास्त्रियों की अपेक्षा अतीत के आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित जीवन की व्यवस्था के विधान हमारे लिये अधिक बोधमय, तर्कसंगत, ग्राह्य तथा हितप्रद हैं।

यह बात बिल्कुल असंगत तथा विवेक विरूद्ध है कि इस प्रतिपल परिवर्तमान जीवन की अवस्था में अतीत के व्यवस्थाप्रद सिद्धान्तों की सार्थकता अब नहीं रही। गहराई से विचार करने पर आप सब इस विषय को अच्छी प्रकार से समझ सकते हैं कि यह चराचर जगत् तथा उसकी सृष्टि की प्रक्रिया कुछ अटल नियमों पर ही आधारित है। प्राकृतिक परमाणुओं के संघातमय परिणाम से विभिन्न आकार प्रकारमय नाम रूपों का प्रतिपल परिवर्तन भले ही हो रहा हो, किन्तु उनके मूल तत्त्व रूप में प्रतिष्ठित प्राकृतिक पदार्थों में किञ्चन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता।

उदाहरण के रूप में इस तथ्य को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है कि मकान बनाने की प्रक्रिया तथा उनके नित्य नये–२ नमूने बदलते रहते हैं; किन्तु उपादान रूप में रहने वाले

पदार्थ मिट्टी, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि तो आज भी वही हैं जो युगों पहले तपस्वी ऋषि की कुटिया से लेकर बड़े से बड़े सम्राटों के जनपदादि के निर्माण में काम आते रहे हैं। इतना ही नहीं मानव के आहार–विहार, वेष–भूषा, रहन–सहन, आश्रय आदि के उपकरणों के नाम, रूप तथा उनके निर्माण की प्रक्रियाओं में भले ही महान् परिवर्तन हो गया हो; किन्तु उनकी आवश्यकता तथा तत्तत्पदार्थों की पूर्ति हेतू प्रयत्न की प्रवृत्ति में कहीं भी किञ्चन्मात्र भी परिवर्तन हमें दिखाई नहीं देता।

मानव को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के द्वारा सुखमय साधनों को संकलित करने की वृत्ति तथा सृष्टि में सर्वोत्तम पद को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा जैसी अब है वैसी ही तब भी थी, जब कि वह अव्यक्त के गर्भ से धराधाम पर प्रबुद्ध प्राणी के रूप में प्रकट हुआ था। अतः सृष्टि के अटल नियमों पर आधारित जीवन तथा जगत् के रहस्य को जानने वाले आप्त पुरुषों की वाणी हमारे लिये आज भी उतनी ही उपयोगी है जितनी कि अतीत में कभी थी। उसकी उपेक्षा कर जीवन की व्यवस्था में नये–२ घटक निर्माण करने की प्रवृत्ति हिताहित विवेकहीन बुद्धि का ही परिणाम है।

यदि अतीत के मानव समाज की दृष्टि में त्याग एवं प्रेम से युक्त की गई सेवा का स्वागत तथा तत्कार्यरत व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था तो आज के युग में उसकी उतनी ही उपयोगिता तथा उसके महत्त्व को अस्वीकार करना बुद्धि के दीवालियापन का ही परिचायक होगा। इसी प्रकार यम–नियम के सिद्धांत, बाह्याभ्यन्तर शुद्धि, सन्तोष, इन्द्रिय–संयम, स्वाध्याय तथा जीवन के आधारभूत सर्वेश्वर में आस्था, अहिंसा, सत्य, चोरी न करने की भावना, सदाचार तथा संग्रहरहित जीवन की प्रतिष्ठा जिस प्रकार से अतीत काल में मानव के लिये परमोपयोगी तथा

परमादर्श रूप में प्रतिष्ठित थे, ठीक उसी प्रकार से आज भी हैं। यह बात अलग है कि प्रमादरत, बुद्धिहीन मानव उनके महत्त्व को स्वीकार न करे वा स्वीकार करते हुये भी उसे आचरण में उतारने के लिए स्वयं को अक्षम बतावे अथवा अपनी वासनात्मक वृत्ति को छुपाने के लिये सारा दोष काल, कर्म तथा ईश्वर के मत्थे मढ़ दे।

नये युग में नई व्यवस्था के नाम पर निर्माण किये गये सभी नये नुस्खे प्रकृतिरत पाश्चात्य पण्डितों के वा उनसे प्रभावित बुद्धि की ही उपज है, जो अन्वेषण की अपेक्षा विशेषतया कल्पना पर ही आधारित हैं। जैसे कि मिस्टर डार्विन के सिद्धान्त के आधार पर विकासवाद की प्रणाली को स्वीकार करने में कोई भी पाश्चात्य पण्डित अपनी प्रज्ञा को कष्ट देना उचित नहीं समझता। यह मानना कि प्राणी जगत् के विकास की प्रक्रिया में आज का मानव भी एक कोष के प्राणी अमीबा का ही विकसित परिणाम है, इसमें न तो किसी वैज्ञानिक अन्वेषण का आधार ही है और न किसी दार्शनिक के तर्कसिद्ध विवेक की स्वीकृति ही। कालक्रम परिस्थिति के प्रभाव से प्रेरित हो जीवन के लिए उचित व्यवस्था की चाह में संलग्न उन पाश्चात्य पण्डितों के सिद्धान्त भले ही अपने में प्रतिपल परिवर्तन की अपेक्षा रखते हों किन्तु भारतीय तत्त्वदर्शी ऋषियों द्वारा प्रतिपादित जीवन व्यवस्था कभी भी किसी के लिये भी अनुपयोगी तथा उपेक्ष्य नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय सभी पाश्चात्य विद्वानों को उपेक्षा की श्रेणी में रखकर "अपने मुँह मीयां मिठ्ठू" वाली कहावत को चरितार्थ करने के लिए भारतीयों की महिमा गान करने में नहीं, मैंने तो केवल मानव समाज में वर्तमान की उलझन भरी मान्यताओं से ऊपर उठ कर हिताहित निर्णय की योग्यता सम्पादनार्थ चिन्तन शक्ति को जागृत करने के लिये ही उपयुक्त विषयों पर विचार किया

है।

मेरे पूर्वोक्त विचारों से असहमति तथा उन पर अलोचना करने से पूर्व एक बात आप सब को यहाँ समझ लेनी चाहिये कि भारतीय मनीषियों ने जिस सदासद् विवेचनी प्रज्ञा द्वारा सृष्टि के सूक्ष्म तत्त्वों को सूक्ष्मतम दृष्टि से निरूपित कर जनमानस को उनसे अवगत कराने के लिये दार्शनिक दृष्टि का सूत्रपात किया है, उसमें तथा पश्चिम के विभिन्न वादों को जन्म देने वाले तथाकथित दार्शनिकों के सैद्धान्तिक निरूपण की आधारभूता बौद्धिक विकास की साधना पद्धति में महान् अन्तर रहा है। इस अन्तर को समझने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर हमें दोनों देशों के दार्शनिकों की जीवन–पद्धतियों को जानना होगा।

जहाँ पर भारतीय दार्शनिक निर्विकार सत्य की जानकारी को ही दर्शन का विषय मानता है तथा उसके लिए वह जगत् के समस्त विकारों की आधारभूता जागतिक परिस्थितियों से परे होकर एकान्त चित्त से अपनी साधना में संलग्न होता है; वहाँ पर दृष्ट तत्त्व को सत्य मान इसके सार को समझने के लिए अपवाद रूप में कतिपय दार्शनिकों की छोड़कर अधिकांश पाश्चात्य पण्डितों की साधना का क्षेत्र हमें बड़े–२ पुस्तकालयों तथा अपने पूर्व के पण्डितों की पोथियों के रूप में ही प्राप्त होता है।

सारांशतः एक प्रकृति के प्रपञ्चमय प्रवाह को जानने की जिज्ञासा से निरीक्षणात्मक तथा परीक्षणात्मक दृष्टि को आधार बनाकर प्रशान्त देश में साधन रत होता है, दूसरा प्रकृति के प्रवाह से प्रभावित हो तत्कालीन परिस्थितियों से परे जाने की भावना को लेकर तज्जन्य किसी नवीन तथ्य को उद्घाटित करने की चेष्टा में चिन्तनरत होता है। एक प्राकृत प्रवाह से परे हो उसके कारण को जानना चाहता है, दूसरा प्राकृत में प्रवाहित हो गोते खाते हुये उससे पार जाना चाहता है। एक के दार्शनिक

तथ्यों की अभिव्यक्ति का आधार जिज्ञासा है, जबकि दूसरे का परिस्थितिजन्यं परिणामों का प्रतिघात। अतः पश्चिम की अपेक्षा भारतीय दर्शन की आधारशिला पूर्णतया वैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण है।

जैसे एक वैज्ञानिक प्रकृति के किसी भी पदार्थ के कार्य–कारण सम्बन्ध को सही रूप में जानने के लिए उसके एक खण्ड को अपने परीक्षण का आधार बनाता है तथा उस खण्ड के द्वारा अनुभूत तथ्य को ही वह उस पदार्थ का सम्पूर्ण रूप में निहित सत्य घोषित करता है; ठीक उसी प्रकार सृष्टि के अंश रूप अपने शरीर तथा तद्गत चेतन को ही सत्यान्वेषण का आधार बना कर भारतीय दार्शनिक निर्विकार सत्य को खोजने की प्रक्रिया को प्रतिपादित करता है। अतः अतीत के भारतीय मनीषियों द्वारा उद्घाटित सृष्टि की प्रक्रिया उनकी बुद्धि की उपज नहीं, साधनरत जीवन की खोज है। अतः जड़ चेतनात्मक सृष्टि तत्त्व के अनुसन्धानकर्त्ता महर्षियों ने अपने अकृत्रिम साधनों द्वारा जीवन की समस्या को सुलझाने में पाश्चात्य पण्डितों की अपेक्षा बहुत सफलता प्राप्त की है।

यह बात बिल्कुल सत्य है कि वह अनन्त सत्य किसी व्यक्ति विशेष की भाषा, भाव तथा बुद्धि में आबद्ध नहीं हो सकता; फिर भी संत तुलसीदास जी के शब्दों में–

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई।
तदपि कहे बिनु रहा न कोई।।

अर्थात् सृष्टि के आदि आधार रूप उस अव्यक्त अनन्त सत्य की अकथनीय महिमा को सभी विचारक जानते हैं तथापि कुछ न कुछ उसके विषय में कहने की भावना भाषा रूप में अभिव्यक्त हो ही जाती है। उस अव्यक्त सत्य की बात तो अलग रही, इस दृश्य जगत् के विषय में भी पूर्णरूप से निश्चय पूर्वक सहसा

कुछ कहने की बात बनती नहीं। मानव के लिये इसके विषय में खोज की प्रक्रिया की भावना भी एक अटपटी सी बात लगती है, क्योंकि जिस दृश्य जगत् के विषय में जानने की जिज्ञासा से प्रेरित हो वह खोज में प्रवृत्त होता है, स्वयं भी तो उसी का एक अंग है। भला अंग अपने अंगी को, अंश अंशी को, जुज कुल को सम्पूर्ण रूप से जानने का दावा कैसे कर सकता है? फिर भी यह बात तो सभी जानते हैं कि अंशी के गुण, स्वभाव, स्वरूप तत्त्वतः अंश के रूप में तो विद्यमान होते ही हैं। जैसे आग की चिन्गारी में मूलतः वही तत्त्व विद्यमान हैं जो उसके प्रज्जवलित विशाल ढेर में, अतः भारतीय ऋषियों ने इसी तथ्य को स्वीकार करके सृष्टि के अंश रूप स्वस्वरूपानुसन्धान कर तदानुभूत सत्य को ही विश्वरूप में अवस्थित परम सत्य के रूप में घोषित किया। भारत का अध्यात्मवाद इसी प्रकार के अनुभूत सिद्धान्तों के आधार पर प्रतिष्ठित है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से आधिभौतिक जगत् के विषय में जो कुछ भी हमें हमारी इन्द्रियों द्वारा जानकारी प्राप्त होती है, सर्वथा संदिग्ध ही रहती है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इस सत्य का उद्घाटन किया है कि हमारी आँखों के सामने जो कुछ भी दृश्य जगत् दिखाई देता है, तत्त्वतः उसका वह रूप नहीं होता। उदाहरण के रूप में हम जब किसी वस्तु को देखते हैं तो उसका एक आकार–प्रकार तथा एक रूप–रंग ही हमें दिखाई देता है। आकार–प्रकार के विषय में कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसको देखने वाले व्यक्ति के किस तरफ, कितनी दूरी पर वह दृश्य स्थित है तदनुसार ही उसका आकार उसे दिखाई देगा। इस बात को तो हम सभी जानते हैं जो वस्तु निकट से एक बड़े आकार में दीखती है, दूर जाने पर वही छोटी सी लगने लगती है तथा जो वस्तु निकट से चौरस

दिखाई देती है, वही उसके एक कोने में दूर से खड़े होकर देखने पर कोनी वा अधिक दूर से देखने पर केवल रेखा के रूप में ही प्रतीत होती है। इतना ही नहीं गहराई से विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि विश्व की सभी वस्तुएं जिन आणविक संघातों से बनी हुई हैं, उनमें प्रतिपल गतिशील होने के नाते सतत परिवर्तन होता रहता है। कारण के परिवर्तन से कार्यरूप में स्थित दृश्य भी परिवर्तित होगा ही, किन्तु इस समस्त गतिशील दृश्य को हमारी आँखें स्थिर रूप में ही देखती हैं। अतः किसी दृश्य पदार्थ के आकार प्रकार में प्रतिपल वृद्धि तथा क्षय होने के क्रम को जानते हुये, उसका सही रूप में निश्चय करना कठिन ही नहीं, सर्वथा असम्भव है।

वैज्ञानिकों के मतानुसार पदार्थों के रंग के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हमारी आँखें जब किसी वस्तु विशेष पर पड़ती हैं तो उनमें किसी रंग विशेष को भी स्वीकार करती हैं; किन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि सूर्य की किरणों से विभिन्न रंगमय तरंगों का प्रवाह सर्वत्र प्रतिपल प्रवाहित हो रहा है। हर एक पदार्थ में यह एक विशेष गुण होता है कि विभिन्न रंगमय तरंगों को आत्मसात् कर किसी एक रंग विशेष को वह बाहर लौटा देता है। उस पदार्थ से लौटा हुआ रंग, जिसको कि वह अपने में ग्रहण नहीं कर सका, हमारी आँखों के सामने दिखाई देता है, जिसे हम उस पदार्थ का रंग मान लेते हैं। अब ज़रा और गहराई से विचार करने पर यह बात समझ में आ जाएगी कि हम जिस वस्तु का जो रंग मानते हैं, वह सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि रंग वस्तु में नहीं, सूर्य की किरणों में वा प्रकाश में है। कारण कि प्रकाश के अभाव में किसी भी पदार्थ में हमें कोई भी रंग दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में वह वस्तु क्या है, कैसी है, इस विषय में भला निश्चित रूप से क्या

कहा जा सकता है? तुलसीदास जी के शब्दों में इस दृश्यमान जगत् के विषय में हमारी धारणा ठीक वैसी ही है जैसे–

नौकारूढ़ चलत जग देखा।
अचल मोहबस आपुहि लेखा।।
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी।
कहहिं परस्पर मिथ्यावादी।।

(रा० ७/७३–५,६)

आधिभौतिक जगत् के विषय में जो भी कुछ नाम–रूप हम स्वीकार करते हैं, व्यवहार सिद्धि की दृष्टि से ही वह उपयोगी कहा जा सकता है। अतः भारतीय विचारकों ने इसे व्यवहारिक सत्य के रूप में ही माना है; किन्तु इस समस्त दृश्य के मूल रूप में तत्त्वतः जो कुछ भी सत्य निहित है, अध्यात्मवाद की दृष्टि से वही उसकी आधारभूता आत्मा है, वही परम सत्य है।

मूल रूप में प्रतिष्ठित वह परम सत्य स्वयं में जड़ है वा चेतन अथवा दोनों हैं; इस विषय में अध्यात्मवाद का सीधा सादा उत्तर है कि इस समस्त दृश्य के मूल रूप में प्रतिष्ठित तत्त्व जड़ है तथा उन समस्त दृश्यों के द्रष्टा रूप में अभिव्यक्त जीवों का आधार तत्त्व चेतन है। इन दोनों को गीता में प्रकृति तथा पुरुष के नाम से कहा गया है–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।।

(गीता १३/१६)

"हे अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया तथा पुरुष, इन दोनों को ही तू अनादि जान और रागद्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न

हुये जान।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकृति और पुरुष यानी

जड़ और चेतन दोनों तत्त्व अनादि वा अनन्त हैं; क्योंकि न तो कभी जड़ से चेतन ही उत्पन्न हो सकता है और न कभी चेतन से जड़ ही। अतः ये दोनों प्रकार की मान्यतायें कि (१) सम्पूर्ण जड़–चेतनात्मक जगत् का मूल कारण एक चेतन तत्त्व है वा (२) समस्त उभयविध सृष्टि का कारण एक जड़ तत्त्व है, सूक्ष्म रूप से विचार करने पर सर्वथा तर्कहीन व असंगत ही सिद्ध होती हैं।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से विश्व का सम्पूर्ण दृश्य त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणामों का ही विकसित स्वरूप है। प्राकृतिक परिणामों की अवस्था–विशेष में उत्पन्न हुये सत्त्वमूल के माध्यम से ही उस परम अव्यक्त चेतन की अभिव्यक्ति होती है। गुणों की न्यूनाधिक मात्रा से चित्तभेद तथा चित्तभेद से ही उसके माध्यम से अभिव्यक्त हुये चेतन में नानात्व की प्रतीति होती है। प्राकृतिक पदार्थों (कार्बन, गन्धक, नाइट्रोजन) के सम्मिश्रण से बना हुआ सत्त्वमूल (Protoplasm) चेतन का कारण नहीं अपितु चेतन की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है–

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
(गीता ८/१६)

की दृष्टि से यह समस्त जगत् प्रवाह व्यक्ताव्यक्त रूप में सतत प्रवाहित होता रहता है।

"आविर्तिरोभावात्" इसके आविर्भाव तथा तिरोभाव की प्रक्रिया प्रवाह रूप से अनादि तथा नित्य है। इसी को परमर्षि भगवान् कपिल ने "सञ्चरः प्रतिसञ्चरः" कह कर संकेत किया है। यद्यपि चेतन तथा जड़, ये दोनों गुण, स्वभाव, स्वरूप से सर्वथा भिन्न–२ हैं तथापि समस्त जड़ दृश्य की आधारभूता वह अव्यक्त प्रकृति (चेतन) पुरुष के आश्रित हो उसकी शक्ति तथा श्री के रूप में सदैव उसके साथ बनी रहती है। उसके विषय में अध्यात्मवादी ऋषियों ने इस सत्य का उद्घाटन करते हुये कहा है–

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

(श्वेताश्वतर ६/८)

अर्थात् उस परमेश्वर की ज्ञान, बल और क्रिया रूपा, स्वाभाविकी (सहज) स्वरूपभूता दिव्य शक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है। गीतानाथ ने भी इस सत्य को व्यक्त करते हुये कहा है–

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।

(गीता ६/१०)

'हे कुन्तीपुत्र! मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति सम्पूर्ण चराचर को उत्पन्न करती है और इसी कारण से यह जगत् प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है'। नाम–रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति के विषय में गीतानाथ का संदेश है–

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।

(गीता १४/३,४)

"हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्म रूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतन रूप बीज को स्थापन करता हूँ तथा इस जड़ चेतन के संयोग से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियां अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सब की यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति तो गर्भ को धारण करने वाली माता है और शरीर रूप में बीज का स्थापन करने वाला मैं पिता हूँ।"

उपरोक्त समस्त विवेचना का अभिप्राय केवल इतना ही है कि अध्यात्मवाद की दृष्टि में इस सृष्टि के मूलाधार रूप में

प्रतिष्ठित वह एक परम चेतन नित्य तत्त्व है और तदाश्रित ततशक्ति स्वरूपा प्रकृति जिसको अव्यक्त एवं समस्त दृश्य जगत् के कारण रूप में अवस्थित होने के नाते सही रूप में निर्वचन करना कठिन ही नहीं बल्कि सर्वथा असम्भव होने से अनिर्वचनीया कहा जाता है, का प्रसार ही यह सम्पूर्ण विराट् विश्व है। जहाँ पर तत्त्वतः परम सत्य के रूप में समस्त प्रपञ्चों की आधारभूता प्रकृति के स्वामी 'शान्तं शिवं अद्वैतं' स्वरूप पुरुष को स्वीकार किया गया है, वहाँ पर व्यवहारिक दृष्टि से इन समस्त नाना प्रकार के नाम रूपों में अवस्थित जगत् की उपयोगिता की उपेक्षा नहीं की गई है।

अनन्त चित्तों के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली चेतन सत्ता एक अद्वैत निर्विकार है तथा अनेक नाम–रूपों की आधारभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृति विकारयुक्त होने से ही नानात्व का कारण बनती है। अध्यात्मवाद के सिद्धांतानुसार इस सत्य को समझ लेने के पश्चात् जीवन में उलझन उत्पन्न करने वाली समस्त समस्याओं का सरलता से ही सुलझाव हो जाता है; क्योंकि वह इस नामरूपात्मक जगत् को परमार्थरूप में नहीं बल्कि वर्तमान रूप में इसकी उपयोगिता होने से इसे व्यवहारिक सत्य के रूप में ही स्वीकार करता है।

अब इससे आप इस बात को तो समझ ही गये होंगे कि जिस वस्तु को केवल हम व्यवहार की दृष्टि से ही स्वीकार करते हैं, उसमें हमें कभी भी आसक्ति नहीं होती और न ही उसको सदा एक रूप में बनाये रखने का मोह होता है। भला जहाँ पर आसक्ति नहीं है, मोह नहीं है, वहाँ उसके प्रति संग्रह की भावना ही कैसे उत्पन्न हो सकती है तथा उसके अभाव में वा नष्ट होने पर व्यक्ति दुःखी ही कैसे हो सकता है? सभी ग्रन्थ अथवा दार्शनिक इस विषय में एक मत रखते हैं कि जागतिक पदार्थों के प्रति

आसक्ति वा मोह ही मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण है। तुलसी के मत से –

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।

क्योंकि इसी से पदार्थों के संग्रह की प्रवृत्ति का जन्म होता है, जिस के लिए बलवान् तथा चतुर लोग निर्बल तथा भोले व्यक्तियों के परिश्रम के परिणाम रूप में प्राप्त पदार्थों का भी अपहरण कर स्वयं को समृद्धिशाली बनाने का घृणित उपाय अपनाते हैं, जिससे समाज में अव्यवस्था तथा अशान्ति का जन्म होता है। यदि केवल प्राकृतिक पदार्थों की उपयोगिता को ही स्वीकार कर उनके व्यवहारमय स्वरूप को ही जीवन में स्थान दिया जाये तो समाज की अव्यवस्था तथा जीवन की अशान्ति को उत्पन्न होने का अवसर ही न मिले; किन्तु सदियों से समाज में जो भी कुछ होता आ रहा है वा हो रहा है, वह बिल्कुल इसके विपरीत है। कारण कि सामान्य लोगों की दृष्टि में अध्यात्मवाद की अपेक्षा भौतिकवाद सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है क्योंकि उसके लिए बुद्धि को अधिक कष्ट देने की आवश्यकता नहीं होती।

भौतिकवादी दार्शनिकों के मतानुसार जो कुछ भी हमारी इन्द्रियों के द्वारा हमें जानने को मिलता है, वही हमारे लिये सत्य है, क्योंकि हमारे दैनिक जीवन में इसी का प्रयोग होता है; अतः इस जीवनोपयोगी सत्य से परे भी कुछ है, यह मिथ्या भ्रान्ति है और यदि हो भी तो उससे हमारे जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं अथवा हमारे लिये सर्वथा अनुपयोगी वा निरर्थक है। पाश्चात्य भौतिक दर्शन–शास्त्रियों के मत से अध्यात्मवादी जिस सत्य की कल्पना करते हैं वा जिसको वे अनुभव सिद्ध परम सत्य कहकर प्रतिपादित करते हैं, उसके विषय में विचार करना केवल जीवन के अमूल्य समय को नष्ट करना मात्र है।

यह बात बिल्कुल सत्य है कि सामान्य दृष्टि से सामान्य

लोगों के पास उस अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों का परीक्षण करने के लिये न तो योग्यता है, न समय है और न आवश्यकता ही। विश्व में बहुधा प्रवाहमार्गियों का ही बाहुल्य होता है, वे लोग अपने जीवन वा जगत् के विषय में केवल दूसरों की देखी सुनी बातों पर विश्वास करके जो कुछ भी धारणा बना लेते हैं, तदनुसार ही उनकी दैनिक व्यवहार में प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में समाज के बुद्धिवादी लोगों द्वारा जिस प्रकार के विचारों का अधिकतः प्रचार वा प्रसार होता है, सामान्य लोगों के जीवन में उसी प्रकार की धारणा तथा वैसे ही विचारों की प्रतिष्ठा हो जाती है; और इस तथ्य को सभी जानते हैं कि व्यक्ति के विचार ही उसके व्यवहारिक जीवन के संचालक होते हैं।

सौभाग्य कहिये या दुर्भाग्य, जिस भारत भूमि में अध्यात्मवाद का जन्म हुआ, वह इस नये वैज्ञानिक युग के प्रारम्भ से ही परदेशियों के द्वारा पराजित हो परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ी हुई थी। इस बात को मैंने पहले भी बताया है कि कोई भी विजित जाति अपने विजेताओं के अधीन रह कर अपने अतीत की गौरवमय गाथा का गान नहीं कर सकती। उसकी सभ्यता, संस्कृति, भाषा, खान–पान, रहन–सहन, रीति–रिवाज़ तथा दार्शनिक सिद्धांत कितने ही विशुद्ध, बुद्धिग्राह्य, वैज्ञानिक तथा जीवनोपयोगी क्यों न हों, सभी के सभी विश्व की दृष्टि में हेय तथा उपेक्षणीय हो जाते हैं। थोड़ा सा विचार करने से ही यह बात प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है कि हम भारतीयों की सदाचारयुक्त शीलमय सभ्यता, प्रज्ञाप्राप्त मनीषी महर्षियों के विशुद्ध बहुमुखी भावोत्पादक संस्कारों से ओतप्रोत संस्कृति, सुसंस्कृत भाषा, देशकानुकूल खान–पान, रहन–सहन, रीतिरिवाज़, त्यौहार तथा खोजपूर्ण वैज्ञानिक, तर्क–संगत, सर्वजनोपयोगी, सार्वभौम अध्यात्मवादी दार्शनिक सिद्धान्त, ये सब के सब आज के विश्व के लिये ही नहीं

बल्कि अपने मूल स्थान इस भारत में भी अर्थहीन तथा अनुपयोगी माने जाने लगे हैं; क्योंकि वे सभी के सभी एक ऐसी जाति से सम्बन्धित हैं, जो कि सदियों से प्रमादवश होने से पराजित हो परतन्त्र तथा विजित के रूप में जीवनयापन करती आ रही है।

पूर्वापर की परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात् आज भी हम इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि अध्यात्मवाद के आधार पर परम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित जीवन में जीने की कला का विधान हम भारतीयों के लिए ही नहीं बल्कि सृष्टि के सम्पूर्ण मानव की उसके परम लक्ष्य रूप नित्यता, पूर्णता तथा स्वाधीनता को प्राप्त करा कर 'शान्तं शिवं अद्वैतं' की प्रतिष्ठा के लिये परमोपयोगी है।

ॐ

जीवन व्यवस्था का ह्रास

अब तक के विचार विनिमय द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचें हैं कि भौतिकवाद के आधार पर प्रतिष्ठित विभिन्न प्रकार के वाद मानव जीवन की समस्याओं को सुलझाने में समर्थ नहीं हैं। अतः हमें जीवन की सुव्यवस्था के लिये अब पुनः पूर्व के मनीषी महर्षियों द्वारा प्रतिपादित अध्यात्मवाद की ही शरण लेनी होगी।

कुछ लोगों के विचार से अध्यात्मवाद का व्यवहारिक जीवन में कोई उपयोग नहीं है, वह तो केवल मृत्यु के पश्चात् परलोक की व्यवस्था का साधन मात्र है। कुछ लोगों की दृष्टि में अध्यात्मवाद केवल मनोराज्य में शान्ति स्थापित करने के लिये भले ही उपयोगी हो, किन्तु व्यवहार में उसकी उपयोगिता नगण्य है। इसी प्रकार से और भी कई प्रकार के विचारक अपनी मौलिक विचारधारा के नाम से स्थापित कुछ सिद्धान्तों के आधार पर जीवन–विधान की व्यवस्था की कल्पना करते हुये अध्यात्मवाद की उपेक्षा का पाठ पढ़ाते हैं, किन्तु यह सब होते हुए भी आज के प्रबुद्ध मानव जीवन में अध्यात्मवाद के प्रति आस्था तथा उसके प्रकाश में निज उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आशा का अभाव नहीं हुआ है।

यह बात सत्य है कि जिस भारत भूमि में अध्यात्मवाद का उदय हुआ वहाँ के जन-जीवन की व्यवस्था तथा अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों में एक बहुत बड़ी खाई का विस्तार हो गया है।

कुछ काल पूर्व से मानने के लिये अध्यात्मवाद की प्रधानता होते हुये भी जीवन की प्रक्रिया में ठीक उसके विपरीत आचरण होता रहा है। अध्यात्मवाद के सिद्धान्तानुसार सर्वरूप में एकात्मतत्त्व को स्वीकार करते हुये भी व्यवहारिक जीवन में पतित तथा पुण्यात्म भाव की दृष्टि से उत्पन्न हुये विघटनकारी भेदभाव के आधार पर व्यक्ति व्यक्ति से घृणा, ऊँच–नीच, छुआ–छूत की वृत्ति का रोग, इतना ही नहीं जातिवाद के आधार पर मानवता विरोधी अहंकारमय निकृष्टतम व्यवहार की अभिवृद्धि का प्रचण्ड ताण्डव सदियों से चला आता हुआ आज भी हमारे समक्ष ज्यों का त्यों उपस्थित है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से यह बात सत्य है कि दर्शन ही जीवन के विधान का प्रवर्त्तक होता है किन्तु भारतीय दर्शन के उच्चतम आदर्शों का अध्ययन करने के पश्चात् वहां के जीवन–क्रम को देख कर कोई भी विचारक इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं हो सकता कि इस जीवन व्यवस्था का आधार वही एकात्मवाद का प्रतिपादक अद्वैत दर्शन होगा। यही कारण है कि नये जीवन–विधान के निर्माता अध्यात्मवाद को वर्तमान की व्यवस्था में अनुपयोगी तथा केवल परलोक का प्रतिपादक साधन मात्र ही समझते हैं। बल्कि जो लोग भारत के पूर्वकालीन ऐतिहासिक तथ्यों से अपरिचित हैं, उनकी तो ऐसी मान्यता है कि इस विश्व में अध्यात्मवादी सिद्धान्तों के आधार पर कभी भी जीवन की व्यवस्था नहीं हुई। इसीलिये आदर्श राज्य की व्यवस्था के प्रतिपादक ग्रीक दार्शनिक प्लैटो के सिद्धान्त केवल विद्यार्थियों की जानकारी के लिए पाठ्य पुस्तकों तक ही सीमित रह गये। किन्तु इस विषय में मेरी राय है कि जो लोग अध्यात्मवाद की व्यवस्था को प्लैटो के आदर्श राज्य की श्रेणी में मानते हैं, सचमुच उन्हें अतीत के भारतीय जनजीवन के इतिहास का बोध ही नहीं है।

प्लैटो का आदर्श राज्य पाश्चात्य पंडितों की दृष्टि में भले ही कल्पनामय जगत् का परिणाम रहा हो, किन्तु भारत का अध्यात्मवाद सदियों से ही नहीं बल्कि सहस्त्राब्दियों तक यहाँ के जनजीवन का मुख्य आधार रहा है। इतना ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी पाश्चात्य पंडितों के प्रभाव से प्रेरित कतिपय समाज–निर्माताओं को छोड़ कर, भारत के बालगंगाधर तिलक से लेकर महात्मा गांधी आदि तक ऐसे अनेक विद्वान् उस रामराज्य की दिव्य विचारधारा को, जो कि युगों से यहाँ के जनजीवन का मार्गदर्शन करती आ रही है, प्रस्थापित करने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। भारतीयों के रक्त प्रवाह में अध्यात्मवाद का ताप आज भी उसी रूप से विद्यमान है, जैसे पूर्व में कभी था। हर एक भारतीय जिस के दिल–दिमाग पर विशेष रूप से बाह्य संग–दोष का प्रभाव नहीं है, आज भी हृदय से उस रामराज्य की कल्पना कर गद्गद् हो जाता है।

यह बात बिल्कुल सत्य है कि सौ दो सौ वर्ष से ही नहीं, बल्कि भारत के कुछ क्षेत्रों में गुप्त काल के पश्चात् से ही उस अध्यात्मवादी जीवन–व्यवस्था का ह्रास होना प्रारम्भ हो गया था। सम्राट् हर्षवर्धन के निधन के पश्चात् तो विभिन्न क्षेत्रों में जो शासक नियुक्त थे, उन्होंने ही धीरे–धीरे अपनी स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित कर देश की संगठनात्मक व्यवस्था को छिन्न–भिन्न कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप यहाँ छोटे–२ राज्यों का जन्म हुआ और वे लोग कंचन तथा कामिनी के प्रलोभन में पड़ कर एक दूसरे से संघर्ष करते हुये राष्ट्रीय शक्ति के विनाश में ही लगे रहे। यह क्रम कुछ दिनों तक ही नहीं बल्कि अंग्रेज़ों के भारत आने तक ज़ारी रहा। इस युग के भारतीय इतिहास में कितनी बार उतार–चढ़ाव व उत्थान–पतन की कहानियां दोहराई गईं, यह तो इतिहास का अध्ययन करने पर ही पता चलता है।

अंग्रेज़ों के आने के पूर्व इस्लामी शासन के दौरान में लगभग सात सौ वर्षों तक भारतीय जनजीवन एक ऐसे संकटापन्न संघर्षमय परिस्थिति से गुज़रते हुये भी स्वयं के अस्तित्व को जीवित रख सका, जिसकी कल्पना कर सामान्य विचारक आश्चर्यचकित रह जाता है। जबकि मुहम्मद शाही मज़हबी भावना से प्रेरित हो नवोदित अरब जाति, सुसंगठित शस्त्र–बल द्वारा विश्व की समस्त जातियों के निर्मूलन में रत थी और उसने विश्व के पारस, बेबिलोनिया, फिलिस्तीन आदि ऐसे कई राष्ट्रों की सभ्यता, संस्कृति एवं जातीय जीवन के नाम–ओ–निशान तक को मिटाकर वहाँ पर अपनी संस्कृति–सभ्यता से युक्त इस्लामियत की प्रतिष्ठा की। ऐसी स्थिति में उन आततायियों के अनेकों आक्रमणों के पश्चात् भारत के विभिन्न क्षेत्रों में सदियों तक शासन करने पर भी यहाँ की जनजाति जो कि कालचक्र से छिन्न–भिन्न हो असंगठित अवस्था में बिखरी हुई थी, अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से युक्त अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने में सफल रही, यह केवल अध्यात्मवादी दिव्य जीवन–प्रक्रिया के संस्कारों का ही प्रभाव था। उस काल में जो भी कुछ राष्ट्रीय स्तर पर हानि हुई एवं सारहीन तथा संकीर्ण मान्यताओं के आधार पर एक जन समूह को जाति बहिष्कृत कर बुद्धिहीनता का परिचय दिया गया, उसका कारण केवल प्रभावरत पुरोहित वर्ग में तथा धर्माचार्यों में फैला हुआ अज्ञानमय, अदूरदर्शी दृष्टिकोण तथा उनके प्रति राजवर्ग वा जनमानस का अन्ध–विश्वास ही कहा जा सकता है। फिर भी अपने पूर्वकालीन सुसंस्कारों से संचालित होने के नाते भारतीय जनजीवन में समय–२ पर सत्य के प्रति बहुमुखी विचारधाराओं के समन्वय तथा भेदभाव युक्त अमानवीय कुकृत्यों का निर्मूलन कर अध्यात्मवादी व्यवस्था का सुप्रयत्न सतत होता ही रहा है।

इन समस्त गाथाओं का गान करने पर भी एक प्रश्न हमारे दिल दिमाग में सतत बना ही रहता है कि संघराज्य, गणराज्य, वैराज्य, रामराज्य, धर्मराज्य आदि अनेकों प्रकार की अध्यात्मवादी सुन्दरतम सामाजिक सुव्यवस्थाओं तथा सर्वविध शक्ति ऐश्वर्य से सम्पन्न होते हुए भी भारत इस दुर्गति को कैसे प्राप्त हुआ? वर्तमान की तथा अर्वाचीन ऐतिहासिक जानकारी के आधार पर तो ऐसा ही लगता है कि उपरोक्त विधि से जीवन–प्रणाली तथा ऐश्वर्ययुक्त भारत की गाथा केवल कल्पनामय काव्य के क्षेत्र में ही रही होगी किन्तु तथ्य इससे बिल्कुल भिन्न है। मनोविज्ञान के आधार पर इसके लिये हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जिस जाति के जीवन में सर्वथा से ही सुव्यवस्था तथा ऐश्वर्य का अभाव रहा हो उसकी कल्पना का विस्तार भी उस अवस्था तक नहीं हो सकता, क्योंकि काव्य तथा कला के माध्यम से तत्कालीन जीवन की आन्तरिक तथा बाह्य अवस्था की ही अभिव्यक्ति होती है।

अस्तु ! भारत में अध्यात्मवादी सुव्यवस्था थी वा नहीं, हमें अब इस तर्क–वितर्क में नहीं पड़ना है, क्योंकि प्राचीन अवशेषों तथा काव्य–कला संस्कृति के आधार पर यह बात निश्चित हो चुकी है कि अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा भारत का अतीत शक्ति, ऐश्वर्य सम्पन्न महान् गौरवमय रहा है। अतः हमें तो अब केवल इस विषय पर ही विचार करना है कि समस्त मानव सुलभ सुख सुविधा से सम्पन्न तथा सद्‌गुणों से युक्त होते हुये भी भारतीय जनजीवन का हास क्यों और कैसे हुआ?

ॐ

पतन का हेतु

अन्वेषणात्मक दृष्टि से ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा इस तथ्य का बोध होता है कि किसी भी व्यक्ति, जाति, समाज तथा राष्ट्र के उत्थान वा पतन में कुछ विशेष नियम कार्य करते हैं। विश्व में विभिन्न राष्ट्रों के ऐतिहासिक तथ्य अपने में अनन्त बार उत्थान वा पतन की कहानी को लेकर हमारे सामने आज भी इस रहस्य का उद्घाटन कर रहे हैं। वर्तमान युग में ही हमारे देखते हुये जर्मन, फ्राँस, इटली, रूस, चीन, जापान आदि कई एक राष्ट्र प्रकृति की इस प्रक्रिया से गुज़रते हुये अपने में सृष्टि के इस रहस्य को प्रमाणित कर रहे हैं कि जीवन का उत्थान तथा पतन किन्हीं मुख्य कारणों पर ही अवलम्बित होता है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि वर्तमान के विकास की तथाकथित उच्चतर सीमा पर पहुँचा हुआ मानव विनाश से बचने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्नों में संलग्न होते हुए भी उसके कारणभूत तत्त्वों की जानकारी के लिये तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा।

विवेकयुक्त दृष्टि से देखने पर हमें इस तथ्य का बोध होता है कि जगद्गत सभी जीवन क्रम को संचालित करने में त्रिगुणात्मिका प्रकृतिजन्य त्रिविध बोधवृत्ति ही कार्य कर रही है। भिन्न–२ गुणों द्वारा अभिभूत हुई भिन्न–२ प्रकार की बुद्धि का प्रसार ही मानव की समस्त क्रिया–कलापों का कारण होता है। जैसे सतोगुण की अभिवृद्धि में मानव विभिन्न प्रकार की शक्तियों

का समन्वय करता हुआ समत्व भाव से युक्त हो सर्वजनहिताय कार्य में प्रवृत्त होता है किन्तु राजसिक बुद्धि द्वारा उत्पन्न हुये विभिन्न प्रकार की कामनाओं से प्रेरित हो, निज सुख–सुविधा की व्यवस्था के लिए ही सतत प्रयत्नशील रहता है। इतना ही नहीं बल्कि तामसिक बुद्धि की प्रधानता में व्यक्ति स्वयं के हित–अनहित का बोध भी खो बैठता है तथा प्रमादरत हो न करने योग्य क्रियाओं में प्रवृत्त हो अपने सहित समाज के विनाश का साधन भी उपस्थित कर देता है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन का विकास तथा ह्रास उपरोक्त त्रिविध बुद्धि–जन्य क्रियाओं पर अवलम्बित होता है, ठीक उसी प्रकार जब किसी देश, जाति वा समाजगत जीवन में सत, रज, तम आदि गुणों में अभिभूत विचारों की अभिवृद्धि होती है, तदनुसार ही उस के विकास वा ह्रास की अवस्था अभिव्यक्त हुआ करती है।

व्यक्तिगत जीवन में जिस प्रकार विभिन्न जाति के परमाणुओं का संघात ही विशेष रूप से सुव्यवस्थित हो शरीर की अभिवृद्धि तथा सुरक्षा के लिये कार्य करता है और उनके विभिन्न प्रकार की सहयोगात्मक क्रियाओं द्वारा व्यक्ति का जीवन स्वस्थ, सुदृढ़ तथा समुन्नत होता है, ठीक उसी प्रकार राष्ट्र रूपी शरीर की सुरक्षा तथा अभिवृद्धि के लिये भी उसके अवयव रूप राष्ट्र के समस्त नागरिकों को सद्भाव युक्त हो सुसंगठित रूप में सतत सतर्क रहते हुये सुव्यवस्थित ढंग से कार्यरत होने की आवश्यकता होती है।

जैसे आहार–विहार की अव्यवस्था में शरीरगत परमाणुओं के निर्बल हो जाने पर विजातीय परमाणु उस पर हावी हो उसे छिन्न–भिन्न कर डालते हैं, ठीक इसी प्रकार राष्ट्रगत नागरिकों की प्रमादपूर्ण, अव्यवस्थित अविवेकमय जीवन प्रक्रिया से उनका

विघटनकारी वृत्तियों के परिणाम रूप निर्बलता को देखकर

सुखेश्वर्य–लोलुप, परसत्त्वापहारी विदेशी आक्रमणकारियों को वहाँ के सुखैश्वर्य को लूट कर उसे छिन्न–भिन्न करने का मौका मिल जाता है।

'मत्स्यन्याय' से "जीवो जीवस्य जीवनम्" के सिद्धान्तानुसार समस्त सृष्टि का प्रवाह चलता आ रहा है। जैसे बड़ी मछली अपने से छोटी मछलियों को खाकर अपनी अभिवृद्धि करती है, ठीक उसी प्रकार अधिक़तर बलवान् व्यक्ति वा राष्ट्र निर्बल व्यक्तियों वा राष्ट्रों के सत्त्व का अपहरण कर स्वयं को सुखी तथा समृद्धिशाली बनाने की चेष्टा में रत रहते हैं।

यह बात सत्य है कि जब व्यक्ति के जीवन में सुख–सुविधा से सम्पन्न अनुकूल परिस्थिति अपना आधिपत्य जमा लेती है तब उसमें मोह तथा आसक्ति का उदय होता है। मोह के परिणाम में अहंकार तथा आसक्ति के परिणाम में प्रमाद का जन्म होता है। अहंकार युक्त व्यक्ति अपने शक्ति, ऐश्वर्य मद से अन्धा होकर विवेक खो बैठता है जिससे उसे शत्रु–मित्र के प्रति भेद तथा कर्तव्याकर्तव्य का बोध नहीं रह जाता। अतः वह भ्रमित चित्त हो इस प्रकार के विघटनकारी क्रिया–कलापों में प्रवृत्त हो जाता है जिसमें कि उसका सर्वनाश अवश्यंभावी हो जाता है। प्रमादयुक्त व्यक्ति बुद्धि के तमसावृत्त हो जाने से जीवन की प्रगितमय, परम्परागत समस्त प्रक्रियाओं को भूल कर परिणामतः शनैः–२ जड़ता को प्राप्त हो पतन की निम्नतम श्रेणी में पहुँच जाता है। इस अवस्था में शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक, सभी प्रकार के बल का ह्रास हो जाने से दूसरे बलवान् व्यक्ति उस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं तथा वह निर्बलता के कारण पराधीन हो जीवन व्यतीत करता हुआ दुर्गति को प्राप्त होता है। हमें भारतीय पूर्वकालीन इतिहास का अन्वेषण करने पर ऐसा अनुभव होता है कि हमारी सदियों से होती आ रही दुर्दशा का कारण वही प्रमाद

है जो कि उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर सुखैश्वर्ययुक्त जीवन की आसक्ति के परिणाम में जन्म लिया था।

आदिकाल से ही वैदिक साहित्य में स्नातकोत्तर जीवन के कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त होने वाले मानव को मुख्य रूप से त्रिविध आदेश दिया जाता रहा है–

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

(तैत्तिरीय० १/११)

अर्थात् सत्य का भाषण करो, धर्म का आचरण करो तथा सत्य एवं धर्म का बोध कराने वाले स्वाध्याय में कभी भी प्रमाद न करो। इस त्रिविध आदेश में ही जीवन की सम्पूर्ण शिक्षा निहित है। 'सत्यं वद' की आज्ञा देते हुये कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त होने वाले मानव को धर्माचरण का सन्देश दिया गया है, क्योंकि असत्य का व्यवहार करने वाला व्यक्ति कभी भी धर्माचारी नहीं हो सकता। सत्य, धर्म तथा स्वांध्याय, ये तीनों एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं। जीवन में सफलता या विजयश्री रूप निश्रेयस को प्राप्त करने में स्वाध्याय का प्रमुख स्थान है क्योंकि स्वाध्याय के द्वारा विवेक प्राप्त कर व्यक्ति धर्म–अधर्म वा कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का निर्णय कर सत्य का व्यवहार करता हुआ जीवन में विजयश्री का वरण करंता है। श्रुति का संदेश है–'सत्यमेव जयते नानृतम्'। अतः यहाँ पर क्रमशः सत्य, धर्म तथा स्वाध्याय के सम्बन्ध में संक्षेपतः विचार कर लेना उचित होगा।

सत्याचरण का आधार है धर्म और धर्म बोध का आधार है स्वाध्याय। अतः सर्वप्रथम हमें सत्य पर ही विचार करना है। सात्त्विक सदाचारमय जीवन में सत्य की बहुत बड़ी महिमा है। सत्य भाषण का साधक जीवन में प्रमुख स्थान हैं। प्रत्येक धर्मानुयायी सत्य में श्रद्धा रखता है तथा प्रत्येक धर्माचार्य सत्यनिष्ठ होने का सदा संदेश देता है किन्तु सत्य क्या है, इस विषय में एकाएक

निर्णय कर लेना सामान्य बुद्धि से परे की बात है। दार्शनिक दृष्टि से समस्त दृश्य तथा अदृश्य पदार्थों के मूल में जो निर्विकार तत्त्व स्थित है, वही सत्य है, किन्तु इस विषय में मैंने पहले भी विचार दिया है कि जगत् तथा जीवन के मूल में अवस्थित निर्विकार सत्य का व्यवहारिक क्षेत्र में निर्वचन नहीं हो सकता, वह तो केवल समस्त साधनों का साध्य तथा पारमार्थिक अनुभूत सत्ता है, जिसमें प्रतिष्ठित हो मानव सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है, किन्तु यहाँ पर जिस सत्य के विषय में विचार करना है वह व्यवहारिक जगत् में प्रयुक्त होने वाली वाणी से सम्बन्धित है, क्योंकि श्रुति का सन्देश है—सत्यं वद।

सत्य वचन के विषय में भिन्न–२ विचारकों के विभिन्न मत पाये जाते हैं। कुछ लोगों के विचार से इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के द्वारा जो कुछ जिस रूप में देखा, सुना, अनुभव किया गया हो उस का उसी प्रकार से कथन कर देना सत्य है। मनु का मन्तव्य है कि—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेतद्धर्मः सनातनः।।

(मनुस्मृति ४/१३८)

अर्थात् देखे, सुने तथा अनुभव किये हुए सत्य को उतनी ही मात्रा में व्यक्त करना चाहिए जितने से किसी को दुःख वा अमंगलकारी अप्रिय की आशंका न हो; किन्तु किसी को प्रसन्न करने के लिये असत्यप्रिय भाषण भी नहीं करना चाहिए, यही सनातन (शाश्वत) नियम है। देवर्षि नारद का मत है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितं मत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।।

अर्थात् सत्य जो कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ हो उसका कथन करना उत्तम है किन्तु उससे भी श्रेष्ठ बात वह है

जिसके कथन में दूसरों का हित निहित हो क्योंकि जिसमें प्राणी मात्र का आत्यन्तिक हित होता हो वास्तव में वही सत्य भाषण है। सत्य—असत्य के विषय में युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर महात्मा भीष्म ने कहा—भारत! सत्य बोलना अच्छा है, सत्य से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं किन्तु लोक में जिसे जानना परम कठिन है, उसी को मैं तुम्हें बताता हूँ —

भवेत् सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत्।।

(म॰ शा॰१०६/५)

अर्थात् जहाँ झूठ ही सत्य का काम करे (किसी प्राणी को संकट से बचावे) अथवा सत्य ही झूठ बन जाये (किसी के जीवन को संकट में डाल दे) ऐसे अवसरों पर सत्य न बोलना ही उचित है। इस प्रकार सत्य भाषण के सम्बन्ध में भिन्न—२ मत हैं।

मेरे विचार से समाज के लिए सुखकर नहीं बल्कि हित—प्रद वाक्य ही कथनीय हैं और वे ही सदा सत्य की समुचित परिभाषा में परिगणित हो सकते हैं। व्यवहारिक दृष्टि में हमें यही सिद्धान्त श्रेयस्कर प्रतीत होता है कि जिससे व्यक्ति, जाति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के जीवन में हित का सम्पादन होता हो, वही भाषण सत्य तथा ग्राह्य है, क्योंकि लोक कल्याण ही प्रमुख लक्ष्य है, वह जिससे सधता हो वही सत्य है। इस प्रकार की धारणा होने पर ही हमें उचित्त समय पर सत्यासत्य निर्णय करने की गति प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। 'सत्यं वद' के साथ "धर्म चर" का उपदेश है क्योंकि सत्य तथा धर्म एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं। सत्य के अभाव में धर्म और धर्म के अभाव में सत्य प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। श्रुति का संदेश है —

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं

वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा, वदन्तं

सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति।

(बृ.उ.१/४–१४)

अर्थात् वह जो धर्म है निश्चय सत्य ही है। इसी से सत्य बोलने वाले के विषय में कहते हैं कि वह धर्म भाषण करता है तथा धर्म भाषण करने वाले को कहते हैं कि वह सत्य भाषण करता है, क्योंकि ये दोनों धर्म ही हैं।

वर्तमान में धर्म शब्द भी अपने में एक पहेली बना हुआ है। प्रत्येक विचारक अपनी–अपनी रुचि के अनुसार उसकी परिभाषा करता है। धर्म से सम्बन्धित प्रचलित विभिन्न प्रकार की मान्यताओं के आधार पर ही उसकी व्याख्या में आज इतनी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। अधिकाँश लोग मत, महज़ब, पंथ, सम्प्रदाय आदि को ही धर्म रूप में स्वीकार कर उनके द्वारा होने वाले अमानवीय कृत्यों तथा विघटनकारी परिणामों को धर्म की ही देन समझते हैं तथा ऐसी मानवता विरोधी भावोत्पादक मान्यताओं को जीवन से निकाल फैंकने के लिए कटिबद्ध हैं। यह सब जो कुछ भी तथाकथित शिक्षित समाज में धर्म की उपेक्षा ही नहीं बल्कि उसके प्रति घृणा का वातावरण उत्पन्न हुआ है उसका मूल कारण धर्म की भ्रामक व्याख्याएं तथा उसके उचित अर्थबोध का अभाव है।

प्रत्येक पन्थानुयायी व्यक्ति अपने पंथ को धर्म का आवरण चढ़ा कर उसे ही सर्वजनहितकारी तथा सत्य घोषित करता है। कुछ लोगों के विचार से उनका अपना धर्म ही मृत्यु के पश्चात् परलोक में एक मात्र सुख–सुविधा का साधन सम्पन्न करा सकता है। अन्य पन्थानुयायी लोगों की मान्यता है कि उनका धर्म केवल परलोक ही नहीं बल्कि लोक तथा परलोक दोनों में ही सुख शान्ति की प्रतिष्ठा का एक मात्र उपाय है। कुछ लोग धर्म के मूल में किसी व्यक्ति विशेष तथा उसकी वाणी में विश्वास का होना अनिवार्य मानते हैं। कुछ लोग किसी देश, वेष, नाम, रूप,

ग्रन्थ की मान्यता को ही धर्म का आधार बताते हैं। इस प्रकार भिन्न–२ नामों, रूपों, पोथियों, स्थानों तथा रातिरिवाज़ों के माध्यम से अनेक धर्मों की कल्पना कर भविष्य में मिलने वाले सुख–सुविधा के प्रलोभन में जनमानस की वृत्ति को आबद्ध कर एक दूसरे के अस्तित्व को मिटाने में ही रत हैं।

तथाकथित धर्म की ऐसी ही गतिविधियों को देख कर कुछ लोगों की मान्यता है कि धर्म एक ऐसी अफीम है जिसकी मान्यता को कुंछ चतुर व्यक्तियों ने सामान्य बुद्धि वाले लोगों के गले में उतार कर उनके दिल–दिमाग में मृत्यु के पश्चात् परलोक में सुख–सुविधा का प्रलोभन तथा महान् कष्टप्रद नारकीय यातनाओं का भय दिखाकर, अपना उल्लू सीधा करने के लिए समाज में प्रचारित व प्रसारित किया है। उनका कथन है कि इस धर्म रूपी अफीम की घुट्टी पिलाकर ही मानव के मौलिक अधिकारों का अपहरण किया जाता रहा है तथा उसे दासता की बेड़ी में जकड़ कर महत्वाकांक्षाहीन हो जीते जी नारकीय जीवन बिताने के लिए बाध्य किया जाता रहा है। अतः उनके मत से जागृत मानव समाज को धर्म ऐसी विवेकहीन धारणाओं की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की और भी अनेक भ्रान्त धारणाएं समाज में धर्म के नाम पर फैलाई गई हैं। किन्तु एक बार पुनः मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि समाज में फैले हुए विभिन्न प्रकार के मत, मज़हब, पंथ, सम्प्रदाय आदि की मान्यताओं के आवरण ने ही धर्म के वास्तविक स्वरूप को ढक दिया है, जिसके कारण अबोध मानव तथाकथित ज्ञानाभिमान में जीवन के आधार रूप धर्म की ही उपेक्षा कर मनमाने आचरणों से सुख–शान्ति की शय्या पर विश्राम करना चाहता है जो कि कल्पना जगत् के सिवा और कहीं भी प्राप्त होना सम्भव नहीं।

विश्व की सुशिक्षित जातियों में भारत का प्रमुख स्थान है

तथा सुसांस्कृतिक दृष्टि से भी उसे ही प्राथमिकता मिली है। अतीत के भारतीय जीवन विधान में धर्म को ही आधार माना गया है तथा–

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

कहकर धर्म में ही जीवन की प्रतिष्ठा तथा उसकी उपेक्षा में विनाश का संदेश दिया गया है। धर्महीन जीवनयापन करने वाले व्यक्तियों को "धर्मेणहीनाः पशुभिः समाना" कहकर उनकी भर्त्सना की गई हैं। इतना ही नहीं बल्कि प्राचीनकाल के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में धर्माधर्म विवेक युक्त जीवन की महत्ता का ही वर्णन मिलता है तथा सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का प्रयोजन ही धर्म की व्याख्या वा व्यवस्था कराने में रहा है।

धृ (धारणे) धातु से धर्म शब्द निष्पन्न होता है, जिसके निर्वचन में दो प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। "धारयतीति धर्मः" तथा "ध्रियते इति धर्मः" जिसका अभिप्राय होता है कि जो धारण करता है वह धर्म है और जो धारण किया जाता है वह धर्म है। प्रथम निरुक्ति के अनुसार धर्म शब्द एक व्यापक अर्थ को व्यक्त करता है और धारण करने वाले प्राणी तथा पद्धार्थों के सहज स्वभाव रूप धर्म से सम्बन्धित है। किन्तु धर्म की द्वितीय परिभाषा केवल मानव जीवन के लिये ही प्रयुक्त होती है क्योंकि अपने से भिन्न तत्त्वों को धारण कर उनसे सम्बन्ध स्थापित करने वाली इच्छा–शक्ति का विकास उसी में ही पाया जाता है।

वस्तुतः मानव स्वयं न तो प्रकृति (जड़) है न केवल चेतन ही, दोनों के संयुक्त रूप की पूर्णाभिव्यक्ति ही मानव का स्वरूप है। क्योंकि शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा के सामञ्जस्य से ही मननशील प्राणी मानव के जीवन की प्रतिष्ठा है, इनमें से यदि एक का भी अभाव हो जाये तो मानव मानव नहीं रह जायेगा। शरीर, मन, बुद्धि प्राकृत तथा आत्मा अप्राकृत (चेतन)

तत्त्व हैं, इसीलिए मानव धर्म की व्याख्या में 'धारयतीति धर्मः' तथा 'ध्रियते इति धर्मः' के अनुसार धर्म शब्द में दोनों प्रकार के निर्वचनों का समावेश होता है।

सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ प्रबुद्ध प्राणी के रूप में अभिव्यक्त हुए मानव जीवन में आत्मा का सच्चिदानन्द रूप सहज धर्म ही "धारयति इति धर्मः" के अनुसार उसकी सत्ता को धारण करने वाला उससे अभिन्न तथा उसकी "अस्ति" का अवबोधक है और इसी को लक्ष्य करके गीता में "स्वधर्म" शब्द का प्रयोग किया गया है। "स्वधर्म" के इस स्वरूप को जानकर ही मानव स्वगत, स्वरत तथा स्वनिष्ठ होता है और संसार के समस्त व्यवहार को करते हुऐ भी उससे अलिप्त रहता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव से उत्पन्न हुए शरीर, मन तथा बुद्धि से आत्मा का घनिष्ट सम्बन्ध है। "ध्रियते इति धर्मः" की व्याख्या के अनुसार मानव रूप में अभिव्यक्त हुआ चेतन (आत्मा) उनके गुण धर्म को भी स्वयं में धारण करता है और उन्हीं के द्वारा वैयक्तिक तथा सामाजिक रूप में अनेक प्रकार के सम्बन्धों को स्वीकार कर जागतिक व्यवहार में प्रवृत्त होता है। यही उसका स्वीकृत धर्म है। उपर्युक्त उभयविध धर्म की परिभाषा में मानव के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण समाहित है। किसी भी देश, काल, परिस्थिति में रहने वाला व्यक्ति धर्म के इस स्वरूप की अवहेलना कर स्वयं के अस्तित्व की सुरक्षा तथा सुख–शान्ति का सम्पादन करने में समर्थ नहीं हो सकता।

धर्म तत्त्व भारतीय चिन्तनधारा की खोज है। उसके उचित अर्थ को बिना समझे यदि कोई मिथ्या ज्ञानाभिमानी उसे जीवन में अनावश्यक तत्त्व सिद्ध करने की चेष्टा करता है तो यह उसकी अनभिज्ञता का ही परिचायक कहा जायेगा। भारत के विभिन्न धर्म शास्त्रों में जहाँ भी कहीं धर्माचरण की सीख दी गई

है वहाँ कहीं भी मानवीय अधिकारों का अपहरण कर उन्हें दासतामय, नारकीय वा अपमानित जीवन बिताने का प्रसंग नहीं मिलता, बल्कि मानवमात्र के स्वाभाविक तथा स्वीकृत धर्मों का अनुशीलन कर तदनुसार जीवनोपयोगी व्यवहार की प्रक्रिया का उपदेश दिया गया है। यही कारण है कि भारतीय वाङ्मय में किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, ग्रन्थ, पंथ, नाम, रूप तथा रीतिरिवाज़ की परिधि में धर्म को आबद्ध नहीं किया गया और न तो धर्माचरण के लिए ईश्वर तथा परलोक की स्वीकृति को ही अनिवार्य माना गया है। साराँशतः भारतीय चिन्तनधारा में वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के विधायक नियमों को ही धर्म नाम से अभिहित किया गया है।

मानव जाति के आदि व्यवस्थापक मनु ने मानव धर्म की व्याख्या में धृती, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध, ये दस धर्म के लक्षण बताए हैं। महाभारत में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि जीवनोपयोगी सद्‌गुणों को धर्म की व्याख्या में परिगणित किया गया है। महर्षि जैमिनी के मतानुसार वेदानुमोदित कर्म ही धर्म है। स्मृतिकार का मत है कि वेद एवं समृति द्वारा अनुमोदित, सत्पुरुषों द्वारा आचरित तथा जो स्वयं आत्मा को प्रिय हो वही स्पष्ट रूप से धर्म का लक्षण कहा गया है। इतना ही नहीं बल्कि आप्त पुरुषों के द्वारा दिए गए धर्मोंपदेश को वेदशास्त्राविरोधी तर्क द्वारा जो अनुसंधान वा विचार करता है, वही धर्म के रहस्य को जानता है, दूसरा नहीं। इस प्रकार से ऋषियों द्वारा धर्मानुशीलन में मानव के विचार–स्वातंत्र्य को पूर्णरूपेण प्रोत्साहित किया गया हैं। धर्मराज युधिष्ठिर के शब्दों में सामान्य लोगों के लिये धर्माधर्म का निर्णय करना सुगम नहीं क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठित है, श्रुतियां अनेक हैं स्मृतियां भी बहुत हैं, कोई भी मुनि ऐसा नहीं है, जिसके वचन

को अप्रमाणिक कहा जाए, किन्तु इन सभी का जब धर्म के विषय में कोई निश्चित मत नहीं है तो प्रमाण रूप में किसको स्वीकार किया जाए क्योंकि "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" धर्म का रहस्य सत्यासत्य विवेकवती बुद्धि रूपी गुहा में निहित है, जहाँ कि सर्वसामान्य की पहुँच नहीं। अतः 'महाजनो येनगतः स पन्थाः' महापुरुष लोग जिस प्रकार से आचरण करते हुये समाज में बर्तते हैं वही अन्य लोगों के लिये उचित मार्ग है। इसलिये मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के जीवन चरित्र को मानवमात्र के लिये आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हुये महर्षि वाल्मीकि ने कहा है–'रामो विग्रहवान् धर्मः' अर्थात् श्री राम साक्षात् धर्म के साकार विग्रह हैं। भगवान् वेदव्यास के शब्दों में–

श्रूयतां धर्म सर्वस्वंश्रुत्वा चैवा वधारयताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

अर्थात् धर्म के सर्वस्व सार को सुनो और उसे सुनकर हृदय में धारण करो, जो अपनी आत्मा के प्रतिकूल हो वह दूसरों के साथ कभी भी व्यवहार में ना लाओ। किसी अन्य ने भी वेदव्यास जी के इन्हीं मन्तव्यों को अपने शब्दों में व्यक्त किया है–

अष्टादस पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकार पुण्याय पापाय पर पीडनम्।।

अर्थात् अष्टादश पुराणान्तर्गत धर्माधर्म की व्याख्या में व्यासदेव के दो ही मुख्य वचन हैं। पुण्य (धर्म) के लिये दूसरों के हित में अपने शक्ति–सामर्थ्य को समर्पित करना तथा पाप (अधर्म) के लिये दूसरों के अहित वा पीड़ा में उसका प्रयोग करना ।

यद्यपि भिन्न–२ ग्रन्थों में भिन्न–२ प्रकार से व्यक्ति तथा समाज के लिये परमोपयोगी सद्गुणों को ही धर्म की व्याख्या के रूप में परिगणित किया गया है फिर भी इतने में ही सन्तुष्ट न

होकर मानवमात्र के लिये उसकी अवस्थानुसार जीवन निर्माण की स्वतन्त्रता प्रदान करते हुये स्वतन्त्र बुद्धि से धर्माधर्म के निर्णय का सन्देश दिया –

यतोऽभ्युदयः निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिस के द्वारा मानव जीवन में चतुर्मुखी विकास करता हुआ अपने लक्ष्य–नित्यता, पूर्णता तथा स्वतन्त्रता रूप निःश्रेयस को प्राप्त हो वही धर्म है।

इस सूत्र की शिक्षा अनुसार धर्म वह है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने देश, काल, परिस्थिति का अध्ययन कर तदानुकूल विकासयुक्त क्रियाओं का अवलम्बन ले जीवन पथ पर अग्रसर हो, लक्ष्य तक पहुंचने की प्रेरणा प्राप्त करता है। इसीलिये धर्म की परिभाषा में मीमांसा का संदेश है–**चोदना लक्षणो अर्थोधर्म**। अर्थात् जिस से जीवन में गति वा निर्माण की प्रेरणा प्राप्त हो, वही धर्म है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय विचारधारा में धर्म शब्द जिस भाव–गाम्भीर्य को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किया गया है, उसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति, जाति वा समाज विशेष से ही नहीं बल्कि मानवमात्र की जीवन व्यवस्था से है। प्राचीन सहित्य में धर्म शब्द एक ऐसे व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है कि जिसका महत्त्व आस्तिक वा नास्तिक किसी भी प्रकार की विचारधारा वाले व्यक्ति के लिये समान रूप से माननीय है, क्योंकि धर्मानुयायी के लिये ईश्वर तथा परलोक में आस्था रखनी अनिवार्य नहीं। बौद्ध, जैन आदि और भी ऐसी कई विचारधारायें भारत में थी और आज भी हैं जो कि ईश्वर को न मानते हुये भी धर्माचरण में आस्था रखती हैं। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर तथा परलोक की मान्यता वा उसे प्राप्त करने के लिये किसी निश्चित विधि–विधान

द्वारा उसकी उपासना की परिपाटियों तथा अन्य विश्वास के आधार पर आँख मूंदकर अपनाये गये रीतिरिवाज़ों का धर्म की परिभाषा से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सम्पूर्ण भ्रमोत्पादक मान्यताएं तथाकथित धर्म के नाम पर प्रचलित विभिन्न प्रकार के मत–मतांतरों की ही देन हैं। धर्म के सम्बन्ध में धर्मराज युधिष्ठिर को उपदेश देते हुये महात्मा भीष्म का संदेश है–

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

(म॰शा॰१०६/१०)

अर्थात् प्राणियों के अभ्युदय युक्त निश्रेयस् की सिद्धि के लिये ही धर्म का प्रवचन किया गया है। अतः जो समष्टि के प्रभाव अर्थात् विकास में उपयोगी हो वही धर्म है, ऐसा विचारकों का निश्चय है।

इस विषय में मैने पहले भी संकेत किया है कि सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपने में एक विशिष्ट धर्म रखता है। तत्तत्पदार्थों के तत्तत्धर्मों का बोध प्राप्त करने के पश्चात् ही समुचित रूप से उनसे सम्बन्ध वा व्यवहार की व्यवस्था की जा सकती है अन्यथा नहीं। गहराई से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्ति वा वस्तु जो भी हो, उसके स्वभाव वा धर्म के विपरीत व्यवहार करने पर जीवन में न तो सामंजस्य ही प्राप्त हो सकता है, न सफलता ही। जैसे सृष्टिगत प्रत्येक पदार्थ स्वयं में विशिष्ट धर्मयुक्त होने से ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखता है तथा अन्य के लिये भी उपयोगी होता है, ठीक उसी प्रकार मानव का भी अपना एक विशिष्ट धर्म है, उससे युक्त होने पर ही वह स्वयं की सत्ता को सुरक्षित रखते हुये समाज के लिये उपयोगी हो सकता है, अन्यथा नहीं।

संक्षेपतः सत्य तथा धर्म की व्याख्या के पश्चात् अब हमें वेद के तृतीय आदेश—'स्वाध्यायान् मा प्रमदः' पर विचार करना है, क्योंकि स्वाध्याय के अभाव में न तो हमें सत्यासत्य का बोध ही प्राप्त हो सकता है और न ही हम स्वगत तथा स्वीकृत धर्म के स्वरूप को ही जान सकते हैं। सत्य तथा धर्म, इन दोनों के स्वरूप का बोध हमें स्वाध्याय से ही प्राप्त होता है और स्वाध्याय का आधार है—सत्संग। जिसका अभिप्राय होता है सत्पुरुषों के सान्निध्य में जाकर सत्य की जिज्ञासा को पूर्ण करना तथा सत् शास्त्रों का अनुशीलन करते हुए सतत उस परम सत्ता में अनुरक्त होना।

सचमुच मानव जन्म से ही जिज्ञासु होता है। विभिन्न प्रकार के सृष्टि वैचित्र्य को जानने की उत्कंठा उसमें सदैव ही बनी रहती है। इतना ही नहीं बल्कि वह स्वयं के जीवन रहस्य को भी जानने के लिये सतत लालायित रहता है, किन्तु उसको स्वयं में उन समस्त जिज्ञासाओं को पूर्ण करने का साधन उपलब्ध नहीं, उसकी पूर्ति के लिये विवेकशील तत्त्वदर्शी महापुरुषों की शरणागति ही एक मात्र उपाय है, क्योंकि मानव जीवन की रचना ही कुछ इस प्रकार से हुई है कि वह बिना किसी से सीखे कुछ समझ ही नहीं सकता। उठना, बैठना, चलना, बोलना, खाना, पीना आदि जो अन्य प्राणियों के लिये सहज सुलभ जीवनोपयोगी साधन हैं, उनको जानने के लिये भी मानव दूसरे पर अवलम्बित होता है। किन्तु प्राकृतिक विधान से उसमें एक ऐसी विलक्षण शक्ति है, जिससे कि वह सीखते, समझते हुए सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्य को जानने की क्षमता प्राप्त कर सकता है। अतः शिक्षार्थ उसे किसी प्रज्ञापूर्ण तत्त्वदर्शी सत्पुरुष का आश्रय लेना ही आवश्यक

है। भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश है–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

(गीता ४/३४)

अर्थात् धर्माधर्म विवेकात्मक उस ज्ञान को तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों के पास जाकर श्रद्धायुक्त सेवा तथा प्रणिपात (शरणागति) भाव से प्रश्न करके प्राप्त करो। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष तुम्हारे लिये ज्ञान का उपदेश करेंगे। यहाँ पर 'प्रणिपातेन' तथा 'सेवया' ये दोनों शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। ज्ञान प्राप्त करने की इस प्रणाली में जिज्ञासु पहले स्वयं के अहं को आचार्य के चरणों में समर्पित करता है, पश्चात् उस अहंशून्य हृदय में आचार्य की कृपा तथा सदुपदेश से विवेक शक्ति का उदय होता है, जिसके प्रकाश में स्वतः ही स्वाध्याय में अनुरक्ति हो जाती है। स्वाध्यायरत व्यक्ति में कभी भी पुनः अहंकार, प्रमाद तथा मोह आदि के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती।

स्वाध्याय का सीधा सा अभिप्राय है 'स्व' का अध्ययन अर्थात् स्वयं की अवस्था का निरीक्षण। जब कभी जो भी व्यक्ति देश, काल, परिस्थिति के अनुसार स्वयं की अवस्था के अध्ययन में प्रमाद करता है, उस समय उसके जीवन के विकासमय सम्पूर्ण स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं। जैसे व्यक्तिगत जीवन के धर्माचरण युक्त उत्थान में स्वयं के स्वाध्याय की महिमा है, ठीक उसी प्रकार राष्ट्रीय उत्थान के लिये वहाँ के नागरिकों के जीवन में स्वाध्याय के प्रति पूर्ण अनुरक्ति की परम आवश्यकता होती है; क्योंकि प्रमादवश होने से स्वाध्याय के अभाव में उत्पन्न हुए अज्ञान के वशीभूत होकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य बोध से वंचित व्यक्ति, जाति, समाज तथा राष्ट्र के जीवन का विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है। अतः व्यक्ति ही नहीं बल्कि समूचे राष्ट्र के सर्वतोमुखी

उत्थान के लिए भी सत्–असत् बोधयुक्त धर्माचरण की आवश्यकता होती है तथा धर्माधर्म निर्णय के लिए स्वयं की अवस्था एवं सत्शास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य होता है।

भारतीय जनजीवन के पतन का कारण यह हुआ कि दुर्भाग्य से शक्ति तथा ऐश्वर्ययुक्त भारत में स्वाध्याय के प्रति प्रमादमय प्रवृत्ति का आधिपत्य हो गया, जिसके परिणामस्वरूप जनमानस से धर्माधर्म विवेक का प्रायः अभाव सा ही होता गया। कारण कि जाति विशेष को अपने जीवन के विधान तथा व्यवस्था का भार सौंपकर अन्य सभी लोग निश्चिन्त हो गये। काल क्रम से विधायक वर्ग के लोग भी केवल नामधारी तथाकथित पांडित्य के प्रभाव से प्रजा में पूजा के पात्र बन गये। परिणामतः उन्होंने पुनीतता के गर्व से अहंकारयुक्त हो मिथ्या दम्भरत जीवन की व्यवस्था का विधान निर्मित किया। इतना ही नहीं बल्कि सुख तथा सुविधा के प्रलोभन में पड़कर निजाश्रयदाता व्यवस्थापकों कीं मिथ्या प्रशस्ति कर उनकी अनर्थकारी अन्याययुक्त क्रियाओं के प्रतिकार की भी उपेक्षा की। कालान्तर में धीरे–धीरे जीवन के विधायकों ने सत्शास्त्रों पर एकाधिकार कर स्वार्थपरता के नाते सामान्य जनजाति को उसके अध्ययन के अधिकार से भी वंचित कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप भारत के नागरिक अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बोध से विमुख हो पाशविक वृत्तियों से जीवन यापन में संलग्न हो गये। यही कारण है कि वे आज भी सदियों से चली आती हुई उस प्रमाद–प्रिय प्रवृत्ति को त्याग कर अनेक प्रकार की अमानवीय मूढ़ मान्यताओं से मुक्त होने की ओर तत्पर नहीं हो रहे हैं। यह ध्रुव सत्य है कि स्वाध्याय विमुख होने से विवेक के अभाव में बल तथा वैभव भी अधिक काल तक सुरक्षित नहीं रह पाता क्योंकि सर्वविध विनाश में अविवेक ही कारण होता है।

किसी भी व्यक्ति, जाति, समाज वा राष्ट्र का जीवन विधान तथा उसकी आदर्शयुक्त संस्कृति और सभ्यता कितनी भी श्रेष्ठ वा जीवनोपयोगी क्यों न हो, किन्तु जब उसके पालकों में प्रमाद प्रिय प्रवृत्ति का जन्म होता है तो शनैः शनैः उसमें से बुद्धिबल का हास होना आरम्भ हो जाता है। बुद्धि तथा बल का हास होने पर संगठनात्मक वृत्ति तथा कुशलतापूर्ण जीवन–प्रक्रिया का भी अभाव हो जाता है, जिससे उसमें प्राप्त वैभव को सुरक्षित रखने की सामर्थ्य भी नहीं रह जाती। 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के नियमानुसार जीवन की ऐसी अवस्था में अन्य लोग जो कि संस्कृति, सभ्यता एवं आदर्शमय जीवन के विधान से उनकी अपेक्षा भले ही निम्न स्तर पर हों, किन्तु शारीरिक बल तथा संगठित साहस से सम्पन्न होने के नाते उन पर आक्रमण कर विजयश्री का वरण कर लेते हैं। गहराई से विचार करने पर विभिन्न राष्ट्रों के उत्थान एवं पतन के इतिहास में इसी प्रकार के नियम कार्य करते हुए दिखाई देंगे। पतनोन्मुख व्यक्ति, जाति, समाज तथा राष्ट्र के जीवन को उन्नत करने के लिए प्रमादप्रिय वृत्ति का परित्याग कर स्वाध्यायरत हो विवेक के प्रकाश में शारीरिक तथा बौद्धिक सुसंगठित एवं सुविचारमय शक्ति का संपादन और हिताहित बोध युक्त कर्म निष्ठा का होना अत्यावश्यक है।

इस ऐतिहासिक तथ्य से तो सभी परिचित ही हैं कि भारतीय जनजीवन की सुसांस्कृतिक जीवनधारा उनके आततायी विजेताओं की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम थी; किन्तु जैसे कि पहले कहा गया है कि उत्थान की सीमा पर पहुँचकर प्रत्येक राष्ट्र मोह तथा आसक्ति से उत्पन्न हुए अहंकार वा प्रमाद के वशीभूत हो पतन को प्राप्त होता है; ऐसे ही कुछ कारणों के परिणामस्वरूप सदियों तक भारतीयों को भी परतन्त्र हो नारकीय

यातना का अनुभव करना पड़ा। अतः मुख्य रूप से उनके कारण की खोज करते हुये अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अनुकूलता से उपलब्ध हुए सुखास्वादन की आसक्तियुक्त अवस्था के परिणामस्वरूप प्रमाद के वशीभूत होने से, स्वाध्याय के अभाव में ईश्वरीय विधान द्वारा उपलब्ध नित्य यज्ञमय जीवन प्रक्रिया की विस्मृति एवं संगठनात्मक शक्ति युक्त साहसमय महत्त्वाकांक्षा का अभाव ही, हमारे सुखैश्वर्य युक्त सर्वजनहिताय अध्यात्मवादी सुव्यवस्था के ह्रास का कारण रहा है।

ॐ

सांख्य निष्ठा

पूर्वकालीन ऐतिहासिक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सांयकालीन वेला, में (जबकि वैदिक ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश प्रायः लुप्त सा हो रहा था) तदनुसार जीवन प्रणाली में विविध प्रकार की विकृत मान्यताओं ने धर्म तथा तदुद्देशीय मोक्ष की व्याख्या के रूप में आरूढ़ हो परमार्थ प्रिय व्यक्तियों पर अपना पूर्ण प्रभाव प्रस्थापित कर लिया था जिसे द्वापर युग के पौराणिक काल से सम्बोधित किया जाता है जिसमें आधिदैविक तथा आध्यात्मिक यज्ञात्मक तत्त्व ज्ञान का ह्रास सा हो गया था और केवल आधिभौतिक द्रव्यात्मक यज्ञ की ही महिमा का प्रधान्य बढने लगा था। उस समय वैदिक शक्तियों ने धीरे-२ भिन्न-भिन्न देवताओं का रूप ग्रहण कर लिया था तथा अनेक प्रकार के द्रव्यों एवं विधि-विधानों से उनकी आराधना के द्वारा व्यक्ति विविध प्रकार के भोगों को प्राप्त करने की चेष्टा में अनुरक्त हो गया।

उपनिषद् प्रतिपादित परम तत्त्व को प्राप्त करने की अभिलाषा वाले मुमुक्षुजन मुक्ति के नाम पर अकर्मण्यता को अपनाने में ही उत्तम साधना समझने लगे थे। वैदिक ज्ञान, उपासना तथा कर्म-विज्ञान का स्वरूप विकृत हो जाने से समाज में सर्वत्र अव्यवस्था का ही आधिपत्य हो गया था तथा हर एक व्यक्ति के हृदय में 'मारग सोई जा कहुं जोई भावा' की प्रवृत्ति फैल चुकी थी।

एक तरफ तो कुछ लोग कर्मकाण्ड के माध्यम से प्राप्त होने वाले स्वर्गीय सुख की अभिलाषा से प्रेरित हो विविध प्रकार के यज्ञानुष्ठान में रत थे, उनकी दृष्टि में उससे अधिक उत्तम कल्याण का साधन ही दूसरा नहीं था। व्यष्टि भावना ने व्यक्ति को समष्टि के हित की चिन्ता से विमुख कर स्वसुख सम्पादन की साधना में ही आबद्ध कर लिया था। ऐसे लोग भविष्य में मिलने वाले सुख की कल्पना में वर्तमान की परिस्थितियों से उदासीन हो कर्मकाण्ड में ही सतत रत रहते थे। दूसरी तरफ वे लोग थे जो कि सांख्य तथा योग के नाम पर कुछ विकृत सिद्धान्तों एवं साधनाओं में अनुरक्त हो निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन ले कामना के स्थान पर सर्वविध कर्म त्याग की मान्यता को ही निःश्रेयस का उत्तम उपाय मानते थे।

यहाँ एक बात और समझ लेनी है कि वैदिक काल में ही दर्शनशास्त्र के आद्याचार्य भगवान् परमर्षि कपिल प्रतिपादित सांख्य सिद्धान्तानुसार दिव्य जीवन प्रक्रिया को ज्ञान प्रधान वा निवृत्ति मार्ग के नाम से अभिहित किया जाता था जिसका मुख्य उद्देश्य था कि मानव 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' के अंशभूत शरीरी तथा शरीर के रहस्यमय भेद को जानकर समस्त कामनाओं तथा उसके मूल में प्रतिष्ठित अहं कर्तृत्वाभिमान से मुक्त हो लोक संग्रहार्थ स्वकर्त्तव्य पालन के साथ अनासक्त हो जीवनयापन करते हुए स्वस्वरूप प्रतिष्ठा को प्राप्त करे। क्षर–अक्षर का सम्यक ज्ञान ही सर्वविध दुःख निवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है तथा इस रहस्य को जानने वाला व्यक्ति संसार में सर्वविध बर्तता हुआ भी सदैव उससे मुक्त रहता है। यही सांख्य शास्त्र का सन्देश है। सांख्य मतानुसार सर्वविध कर्म नहीं बल्कि कामनाओं का त्याग ही व्यक्ति तथा समष्टि के कल्याण का साधन है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक परमर्षि कपिल को साक्षात् पुरुषोतम के अवतार के रूप में

स्वीकार किया गया है। श्वेताश्वतर संहिता में अग्रजन्मा तथा ज्ञान से परिपूर्ण रूप में उनका परिचय मिलता है–

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रेज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्।

(श्वेवाश्वतर० ५/२)

इस मन्त्र में परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "जो पहले उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को देखता है तथा उन्हें सब प्रकार के ज्ञान से परिपूर्ण करता है।" कुछ लोग यहाँ पर कपिल शब्द का अर्थ सांख्याचार्य कपिल से न लेकर ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ से करते हैं किन्तु मेरे विचार से ऐसा उचित नहीं क्योंकि भगवान् कपिल दर्शनशास्त्र के प्रथम आचार्य तथा वैदिक कालीन ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। तत्त्वज्ञान के प्रवर्तक तथा सिद्धों में उनका प्रमुख स्थान है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण कहते है–"सिद्धानां कपिलो मुनि" अर्थात् 'सिद्धो में सर्वश्रेष्ठ कपिल मुनि मैं हूँ'। इतना ही नहीं सतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उनके प्रमुख शिष्य आसुरी का यज्ञ विधायकों के रूप में परिचय मिलता है।

कठ, छान्दोग्य तथा श्वेताश्वतर आदि अनेक उपनिषदों में सांख्य प्रतिपादित त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा सर्वरूप में प्रतिष्ठित एक परम चैतन्य पुरुष तत्त्व का प्रचुर मात्रा में विवेचन प्राप्त होता है। यम नचिकेता के संवाद में परम तत्त्व का निरूपण करते हुए कार्य की अपेक्षा कारण को परे तथा सूक्ष्म बताया है और अन्त में उस अव्यक्त प्रकृति से परे उसके आधार रूप में विराजित परम तत्त्व पुरुष के विषय में कहा है–

पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।

(कठ० १/३–११)

"पुरुष से परे कुछ भी नहीं है। वही इस तत्त्व विज्ञान की पराकाष्ठा है और वही परमगति है।" इस प्रसंग में सांख्य की

तरह उस परम तत्त्व को पुरुष शब्द से ही अभिहित किया गया है, उससे परे किसी अन्य ईश्वर तथा ब्रह्मा का ज़िक्र नहीं है। सांख्य भी इसी प्रकार पुरुष को ही परम तत्त्व रूप में प्रतिपादित करता है। ऋग्वेद दशम मण्डल के पुरुष सूक्त में भी परम तत्त्व को पुरुष शब्द से ही प्रतिपादित किया गया है। यथा–

पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्।

(श्वेता० ३/१५)

छान्दोग्य में जो सृष्टि के कारण रूप में तप, अप, अन्न का विवेचन है, वह सांख्य प्रतिपादित सत, रज, तम, इन तीन गुणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार–

अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां।

(श्वेता० ४/५)

के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही विवेचन है तथा–

यस्तन्तुनाभइव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो
देव एकः स्वमावृणोत। स नो दधाब्रह्माप्ययम्।।

(श्वेता० ६/१०)

इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में परम चैतन्य तत्त्व पुरुष तथा तदाश्रित प्रकृति के स्वरूप की व्याख्या की गई है। बताया गया है कि 'जैसे तन्तुनाभ (मकड़ी) स्वाश्रित तन्तुओं को अपने से प्रकट कर उसके द्वारा स्वयं को आवृत कर लेता है, ठीक उसी प्रकार वह जो एक देव स्वाश्रित प्रधान प्रकृति को प्रकट कर उसके गुणजन्य अनंत कार्यों द्वारा स्वभाव से ही अपने को आच्छादित कर रखा है, वह परमेश्वर हम लोगों को अपने परब्रह्म रूप में आश्रय दे'। यही मूलतः सांख्य सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन तथा सार है जो प्रायः सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का मुख्य विवेच्य विषय है।

अब यहाँ संक्षेपतः सांख्य सिद्धान्त के विषय में फैली हुई कुछ भ्रमात्मक मान्यताओं पर भी विचार कर लेना उपयोगी

होगा। भ्रमवश कुछ लोगों की मान्यता है कि भगवान् कपिल प्रतिपादित सांख्य में बहुचेतन पुरुष को स्वीकार किया गया है तथा प्रकृति को स्वतन्त्र रूप में कर्त्ता माना गया है किन्तु यह मत कपिल सांख्य सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। इस प्रकार की भ्रमात्मक विचारधारा के लोग किस आधार पर सांख्य को इस मत का प्रतिपादक मानते हैं, मैं समझ नहीं सका। उपनिषद, महाभारत, भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत आदि अनेक ग्रन्थों में जहाँ भी कहीं भगवान् कपिल वा उनकी शिष्य परम्परा में तत्त्वज्ञ आसुरी तथा पंचशिखाचार्य आदि द्वारा दिया गया उपदेश उपलब्ध होता है उस में कहीं भी पुरुष के अनेकत्व तथा प्रकृति के स्वतन्त्र कर्त्तापन का प्रतिपादन नहीं मिलता। सांख्य दर्शन के आधार रूप तत्त्व समास में–**"अष्टौप्रकृत्यः षोडश विकाराः"** से प्रकृति के चतुर्विंशति (चौबीस) भेदों का वर्णन करने के पश्चात् चेतन तत्त्व पुरुष कह कर एक पुरुष का संकेत किया गया है। महाभारत शान्तिपर्व में भगवान् आसुरी अपनी शिष्य मण्डली को तत्त्व ज्ञान का उपदेश देते हुए कहते हैं–

यत् तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन प्रतिपेदे तदव्ययम्।।

(म.शा.२१६/१४)

अर्थात् जो एक मात्र अक्षर और अविनाशी ब्रह्म नाना रूपों में दिखाई देता है, उसका ज्ञान आसुरी ने उस मुनि मण्डली में प्रतिपादित किया। आचार्य पंचशिख ने मिथिला के महाराजा जनदेव की सभा में तत्त्व ज्ञान के द्वारा कैवल्य प्राप्ति का साधन तथा उस के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है–

यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च।
नदाश्च तानि यच्छन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः।।

(मा.शा.२१६/४२)

जैसे नद और नदियां समुद्र में मिलकर अपने नाम और व्यक्तित्व (रूप) को त्याग देती हैं तथा जैसे बड़े–बड़े नद छोटी–छोटी नदियों को अपने में विलीन कर लेते हैं उसी प्रकार आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है, यही मोक्ष है। फिर कहा–

एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत्।
पतिसम्मिश्रिते जीवेऽग्रह्यमाणे च सर्वतः।।

(म॰शा॰२१६/४३)

अर्थात् जीव के ब्रह्म में विलीन हो जाने पर उसके नाम–रूप का किसी भी प्रकार का ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी दशा में मृत्यु के पश्चात् जीव की संज्ञा कैसे रहेगी?

आगे के श्लोक में इस तत्त्व ज्ञान की महिमा का गान करते हुए कहा है कि –

इमां च यो वेद विमोक्षबुद्धि मात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्तः।
न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टैः पत्रं बिसस्येव जलेन सिक्तम्।।

(म॰शा॰२१६/४४)

"जो इस मोक्ष विद्या को जानता है और सावधानी के साथ आत्मतत्त्व का अनुसन्धान करता है वह जल से कमल के पत्ते की भाँति कभी भी संसार में लिप्त नहीं होता"। स्वयं भगवान् कपिल ने महर्षि स्यूमरश्मि को ब्रह्म तत्त्व का सन्देश देते हुए कहा है–

ऋतं सत्यं विदितं वेदितव्यं सर्वस्यात्मा स्थावरं जङ्गमं च।
सर्वं सुखं यच्छिवमुत्तरं च ब्रह्माव्यक्तं प्रभवश्चाव्ययं च।।

(म॰शा॰२७०/४६)

अर्थात् "वह ब्रह्म ऋत, सत्य, ज्ञात, ज्ञातव्य, सबका आत्मा, स्थावर, जङ्गम रूप, सम्पूर्ण सुख रूप, कल्याणमय, सर्वोत्कृष्ट, अव्यक्त, सब की उत्पत्ति का कारण तथा अविनाशी है।" आगे उन्होंने कहा कि ब्रह्मवेत्ता से जो भिन्न है, उस ब्रह्म को जो जानता है,

वह स्तुत्य है।

श्रीमद्भागवत् के तृतीय स्कन्ध में भगवान् कपिल के अवतरण तथा उनके द्वारा माता देवहूति को दिया हुआ अध्यात्म योग का उपदेश उस ग्रन्थ के अमूल्य रत्नों में प्रमुख स्थान रखता है। जीवों की अत्यन्त दुःख निवृति के लिए भगवान् कपिल का कथन है–

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च।।

(भा॰३–२५/१३)

अर्थात् यह मेरा निश्चय है कि अध्यात्म योग ही मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण का मुख्य साधन है जहाँ दुःख–सुख की सर्वदा निवृति हो जाती है। आगे कहा है –

तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम्।।

(भा॰३–२५/१४)

हे अनघे! सम्पूर्ण अंगों से युक्त उस योग का मैंने पहले ऋषियों के प्रति उनकी सुनने की जिज्ञासा होने पर वर्णन किया था, वही अब तुम्हें सुनाता हूँ। इतना कह कर आगे माता देवहूति को पहले अपनी पतित पावनी भक्ति का उपदेश दिया और बाद में इस सम्पूर्ण जड़–चेतनात्मक जगत के कार्य–कारण रूप का विवेचन किया जिसे सम्यक ख्याति अर्थात् बोध प्रदान करने की सार्म्थय होने से सांख्य विद्या के नाम से अभिहित किया जाता है। श्रीमद्भागवत् में ही इस सत्य का प्रतिपादन करते हुए शौनक ऋषि कहते हैं –

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।

जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्।।

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम्।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः।।

(भा॰३—२५/१,२)

"सूत जी! तत्त्वों की संख्या करने वाले भगवान् कपिल साक्षात् अजन्मा नारायण होकर भी लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश करने के लिए अपनी माया से उत्पन्न हुए थे। मैंने भगवान् के बहुत से चरित्र सुने हैं तथापि इन योगीप्रवर पुरुष श्रेष्ठ कपिल जी की कीर्त्ति को सुनते—२ मेरी इन्द्रियां तृप्त नहीं होती।"

समस्त ऐतिहासिक तथा पौराणिक साहित्य यह घोषणा करता है कि इस जड़—चेतनात्मक सृष्टि के कार्य—कारण रूप का निरूपण कर अनादि अविद्या ग्रसित इस जीव संज्ञा को प्राप्त हुए पुरुष को परम तत्त्व का यथार्थ बोध प्रदान कर अत्यन्त दुःख निवृति रूप मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ही वह परमात्मा भगवान् कपिल के रूप में अपने सत्त्वांश से अवतरित हुए थे। श्रीमद्भागवत् का भी यही मत है—

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन्।
तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट्।।

(भा॰३—२४/१०)

अर्थात् स्वतः सिद्ध ज्ञान से सम्पन्न अजन्मा ब्रह्माजी को यह मालूम हो गया था कि साक्षात् परब्रह्म भगवान् सांख्य शास्त्र का उपदेश करने के लिए अपने विशुद्ध सत्त्वमय अंश से अवतीर्ण हुए हैं।

सांख्य सिद्धान्त में पुरुष का क्या स्थान है, वह एक है वा अनेक इसकी स्पष्ट जानकारी हमें भागवत् के इस प्रसंग से उपलब्ध होती है। भगवान् कपिल माता देवहूति को तत्त्व विज्ञान का बोध कराते हुए कहते हैं—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्।।
(भा॰३—२६/३)

यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृति से परे, अन्तःकरण में स्फुरित होने वाला और स्वयं प्रकाश है। इस श्लोक में आत्मा वा पुरुष शब्द जीव वा ईश्वर के लिए नहीं अपितु परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि अगले श्लोक में यह कहा गया है कि —

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ।।
(भा॰३—२६/४)

अर्थात् उस सर्वव्यापी पुरुष ने अपने पास लीला विलास पूर्वक आई हुई अव्यक्त त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया। पुरुष के प्रकाश में ही प्रकृति के विकास वा आविर्भाव की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। माता के समान यह त्रिगुणात्मिका शक्ति प्रकृति अनंत नाम—रूपों से युक्त सृष्ट जगत् की उत्पत्ति में माध्यम होती है और वह पुरुष पिता के समान इन अनंत नाम रूपों की उत्पत्ति के कारण रूप बीज का प्रदाता होता है। गीता के चौदहवें अध्याय में भगवान् कृष्ण का यही कथन है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।
(गीता १४/४)

जो लोग ऐसा समझते हैं कि कपिल प्रतिपादित सांख्य सिद्धान्त में बहुपुरुषवाद का वर्णन है और उसमें ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है, उन विद्वानों को श्रीमद्भागवत में भगवान कपिल द्वारा उपदिष्ठ निम्न श्लोकों पर ध्यान देना चाहिए —

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ।।
अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ।।
(भा॰३–२६/१७,१८)

अर्थात् "जिनकी प्रेरणा से गुणों की साम्यावस्था रूप निर्विशेष प्रकृति में गति उत्पन्न होती है, वास्तव में वे पुरुष रूप भगवान् ही 'काल' कहे जाते हैं। इस प्रकार जो अपनी माया के द्वारा सब प्राणियों के भीतर जीव रूप से और बाहर काल रूप से व्याप्त हैं, वे भगवान् ही पचीसवें तत्त्व पुरुष हैं"।

यह सर्वविदित है कि सांख्य शास्त्र एक वैज्ञानिक दर्शन है। उसका सिद्धान्त सत्कार्यवाद है जिसे आज का प्रज्ञावान व्यक्ति सादर स्वीकार करता है। सांख्य शास्त्र तत्त्व निरूपण का श्रेष्ठतम ग्रन्थ है। उसमें सृष्ट जगत के कार्य–करण रूप में विद्यमान गुण और ज्ञेय का विवेचन है। गुण को प्रकृति तथा ज्ञेय को पुरुष कह कर सम्बोधित किया गया है। सांख्य का पुरुष शब्द व्यक्ति वाचक नहीं तत्त्व वाचक है। उपनिषदों में भी उस परम तत्त्व को ज्ञेय कह कर सम्बोधित किया गया है। यथा –

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।
(श्वेताश्वतर॰ ६/१६)

वह परमात्मा प्रकृति का प्रकाशक होने से विश्व का स्रष्टा, सर्वज्ञ होने से उसका ज्ञाता, स्वयंभू, ज्ञान स्वरूप, कालातीत, गुणों का अधिपति तथा सब कुछ जानने वाला है। इसी प्रकार से अन्य उपनिषदें भी प्रकृति से परे उसके नियन्ता तथा प्रकाशक चेतन को पुरुष, ज्ञेय, आत्मा, ब्रह्म आदि नामों से वर्णन करती हैं। उपनिषदों में हमें चेतन के उपाधि भेद से तीन रूप प्राप्त होते हैं–व्यष्टि चितगत चेतन पुरुष जीव, समष्टि चितगत चेतन पुरुष

ईश्वर तथा सर्वातीत उपाधि रहित विशुद्ध चेतन ब्रह्म। गीता में भी इसी प्रकार से तीन रूपों में पुरुष का विवेचन प्राप्त होता है। सांख्य शास्त्र जब पच्चीसवें तत्त्व चेतन को पुरुष शब्द से संबोधित करता है तब वहाँ पर उसका अभिप्राय केवल जीव स्वीकार कर लेना भ्रान्त बुद्धि का ही परिचायक होगा। गुणासक्त होने से व्यष्टि चितगत चेतन जीव जन्म–कर्मादि के बन्धन में बँधा हुआ चौदहाँ प्रकार के भूतसर्गों में नाना प्रकार की योनियों में जन्मता तथा मरता रहता है किन्तु व्यष्टि चित्त से परे जो समष्टि चितगत चेतन ईश्वर है, वह इस सृष्टि प्रवाह को प्राप्त नहीं होता। यह याद रखना चाहिए कि व्यष्टि चितगत जीव का कारण समष्टि चितगत चेतन ईश्वर है। इन दोनों का ठीक वैसा ही सम्बन्ध है जैसे सूर्य और उसकी किरणों का। उपनिषदों में विभिन्न प्रमाणों के द्वारा इस यथार्थ का बोध कराया गया है। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों प्रकार के चित्त प्रकृति के ही कार्य हैं। सांख्य प्रतिपादित चेतन तत्त्व प्रकृति से परे तथा द्रष्टा रूप से स्थित होने से ईश्वर तथा जीव इन दोनों का आधार वह परब्रह्म परमात्मा है, जिसके विषय में ऋग्वेद कहता है–

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।

(ऋग्वेद १०/९०–३)

अनंत ब्रह्माण्ड तथा तद्गत जीव जिसके अंश रूप में स्थित हैं, वह विराट उसकी महिमा मात्र है। वह परम पुरुष तो उससे भी महान् है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवत् में भगवान् कपिल जिसके विषय में कहते हैं कि अन्तः पुरुष रूप से तथा बाह्य काल रूप से जो व्याप्त है, वही पच्चीसवां तत्त्व है। यहाँ वह पच्चीसवां तत्त्व ऋग्वेद प्रतिपादित परम पुरुष के सिवा अन्य नहीं हो सकता।

कहने का अभिप्राय सांख्य सिद्धान्त में तत्त्वतः कहीं भी

बहुपुरुष की स्वीकृति नहीं है। जिस सूत्र से लोगों को पुरुष के बहुत्व का भ्रम होता है वह सूत्र है–

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषवहुत्वम्।

(सांख्य १/१४६)

जन्मादि की व्यवस्था से पुरुष बहुत हैं अर्थात् जिस अवस्था में अनंत व्यष्टि चित्तों के माध्यम से चेतन पुरुष की अभिव्यक्ति होती है, उस अवस्था में उसमें बहुत अर्थात् अनेकत्व का भाव होता है। इसी बात को भगवान् ने गीता में स्पष्ट करते हुए कहा –

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

(गीता १३/१६)

अर्थात् वह आत्म तत्त्व अविभक्त होता हुआ भी उपाधि भेद से अनेक रूपों में विभक्त जैसा स्थित है। इस उपाधि के नाते ही एक चेतन अनेक रूपों में प्रकट हो प्रकृति के साथ तदात्मय होने से जन्म–मरण, दुःख–सुख, मोह–शोक आदि का भाजन बनता है। सांख्य दर्शन का अगला सूत्र कहता है –

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः।

(सां॰ १/१५०)

उपाधि भेद से भी एक का अनेक रूपों में प्रतीत होना सम्भव हो जाता है आकाश के सदृश घटादिकों के साथ। जैसे एक ही आकाश उपाधि भेद से अनेक रूपों में भिन्न–२ प्रकार का प्रतीत होता है उसी प्रकार एक चेतन तत्त्व अन्तः करणों की उपाधि से विभिन्न धर्मों वाला प्रतीत होता है। यह भेद उपाधि में है न कि उपाधि वाले में। सांख्य दर्शन का अगला सूत्र कहता है –

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्।

(सां॰ १/१५१)

अर्थात् भेद वा बहुत्व केवल उपाधिरूप चित्त में है, वास्तविक शुद्ध चेतन स्वरूप में नहीं। सारांश यह है कि सांख्य दर्शन में

बहुचेतनवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

यह मैं पहले ही बता आया हूँ कि प्रकृति के स्वतंत्र कर्तृत्व को भी सांख्य दर्शन स्वीकार नहीं करता। उसका कथन है—

पुरुष अधिष्ठतं प्रधानं प्रवर्तते।

पुरुष की अध्यक्षता वा साकाश में ही प्रधान का प्रवर्तन अर्थात् सृष्टि कार्य होता है।-भगवान् कृष्ण के शब्दों में—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।

(गीता ६/१०)

मेरी अध्यक्षता में ही प्रकृति समस्त चराचर जगत् को प्रसव करती है अर्थात् अनेक नाम—रूपों वाला यह जड़—चेतनात्मक जगत् उससे उत्पन्न होता है और इसी प्रकार से यह जगत् आविर्तिरोभाव को प्राप्त होता है अर्थात् उत्पत्ति और विनाश के चक्र में घूमता रहता है।

इन समस्त उदाहरणों से निश्चित् है कि सांख्य सिद्धान्त में न तो पुरुष की अनेकता का ही वर्णन है न प्रकृति के स्वतन्त्र कर्तृत्व का ही। ईश्वरकृष्ण रचित कारिका को ही साँख्य सिद्धान्त का प्रमाणिक ग्रन्थ स्वीकार कर उसके मत को भगवान् कपिल का सिद्धान्त मान, उसका निराकरण करना सर्वथा अनुचित तथा अन्याययुक्त है। क्योंकि वैदिक सहित्य से लेकर महाभारत तथा भागवत् आदि पौराणिक ग्रन्थों के अनुशीलन से कपिल सांख्य सिद्धान्त की प्रचुर मात्रा में जानकारी प्राप्त होती है और उन समस्त ग्रन्थों की तुलना में सांख्यकारिका की कुछ मौलिक विषयों के सिवा और बातें मेल नहीं खाती। अतः हमारे विचार से कारिका की अपेक्षा उपनिषद् तथा आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित साख्य मत ही परमर्षि कपिल का सिद्धान्त है। गीता में तो स्पष्ट

शब्दों में भगवान् कृष्ण ने सांख्य मत का विवेचन करते हुए कहा है–

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।

(गीता १८/१३)

'हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए वा सिद्ध होने में अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा तथा देव, ये पांच हेतु सांख्य सिद्धान्त में कहे गये हैं, उनको तू मेरे से भली प्रकार जान। इसी प्रसंग में सांख्य सिद्धान्तानुसार अध्यात्मवादी जीवन प्रक्रिया का विवेचन करते हुए बताया है कि–

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।

(गीता १८/१७)

'जिस पुरुष के अन्तःकरण में, "मैं कर्ता हूँ" ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और सम्पूर्ण कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से ही बंधता है।'

कहने का अभिप्राय सांख्य की दृष्टि में समस्त कर्म पुरुष के प्रकाश में प्राकृतिक गुणों के द्वारा ही हो रहे हैं। व्यक्ति में अहं कर्तृत्वाभिमान केवल उसकी आसक्ति तथा अबोधता के कारण ही उत्पन्न होता है। अतः जो विवेकी पुरुष–प्रकृति भेद को समुचित रूप से समझ लेता है, वह कभी भी किसी भी प्रकार के कर्म बन्धन में नहीं बँधता।

उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई है कि यद्यपि सांख्य के मतानुसार मानव जीवन की व्यवस्था विवेक द्वारा ही संचालित होनी चाहिए क्योंकि ज्ञान शुद्धि ही भाव तथा कर्म की शुद्धि का हेतु है, फिर भी वहाँ सर्वविध कर्म सन्यास का कहीं भी

कोई विधान नहीं है। स्वसुख हेतु सर्वसंकल्प त्याग युक्त फलासक्ति से रहित हो, अनासक्त भाव से समष्टि के हित में लोक संग्रहार्थ विवेक युक्त योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार करणीय कर्मों का आचरण करते हुए जीवन यापन की प्रक्रिया का ही विधान निश्चित किया गया है। सांख्य की दृष्टि से कर्त्तापन के त्याग को ही निवृत्ति मार्ग का स्वरूप कहा है। सांख्यिक कभी भी व्यक्ति के जीवन में प्रमाद युक्त प्रवृत्ति तथा अकर्मण्य हो पलायन की अनुमति नहीं देता। वह पुरुष के विकास में प्रकृति की उपयोगिता का प्रतिपादन करते हुए अभ्युदय के साथ–साथ निःश्रेयस की प्राप्ति का सन्देश देता है, जो कि किसी भी देश, काल, परिस्थिति में रहने वाले मानव के लिए हितप्रद तथा परमोपयोगी है।

कालान्तर में विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन पद्धति का ह्रास होने से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति मार्ग जो कि क्रमशः सांख्य तथा योग के व्यवहारिक स्वरूप थे, के सही दृष्टिकोण में विकृति आने से जनजीवन प्रायः अस्त–व्यस्त हो गया। उचित उपदेश के अभाव में निवृत्ति का अर्थ सर्वकर्मसन्यास कर समाज से विमुख हो भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करते हुए आत्मतुष्टि से लिया जाने लगा था और प्रवृत्ति के अर्थ में निज की सुखसुविधा के लिए उचित–अनुचित विचार रहित हो जिस किसी भी प्रकार से ही भौतिक पदार्थों का संग्रह कर सतत भोग में अनुरक्त रहना ही समझने लगे थे। इन समस्त विकृतियों का कारण था जीवन में एकांगी दृष्टिकोण की प्रधानता। यद्यपि सांख्य की निवृत्ति तथा योग के प्रवृत्ति मार्ग में दृष्टि भेद होने पर भी लक्ष्य भेद का स्थान नहीं है। इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य मार्गी समस्त क्रियाओं को प्रकृति में प्रस्थापित कर स्वयं को कर्त्तापन के भाव से मुक्त रखता है जबकि योगमार्गी सभी कर्मों

की प्रवृत्ति के आदि में ईश्वर की प्रेरणा को स्वीकार कर स्वयं को यन्त्रवत निमित मात्र स्वीकार करता है। तत्त्वतः प्रकृति में क्रिया शक्ति का होना स्वतन्त्रता से नहीं बल्कि पुरुष के प्रकाश में है, फिर भी साकाश मात्र से पुरुष कर्त्ता नहीं हो जाता और उस अनन्त सत्ता से ही सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन हो रहा है। अतः व्यक्ति का स्वयं को कर्त्ता मानना केवल अबोधता का ही परिचायक है, वास्तव में तो वह निमित्त मात्र ही है। अतः इस दृष्टि से दोनों का परिणाम कर्त्तापन के अभाव को ही सिद्ध करता है। सारांशतः प्रवृत्ति तथा निवृत्ति या यूं कहिए कि योग तथा सांख्य की जीवन पद्धति हृदय तथा बुद्धि प्रधान व्यक्तियों की दृष्टि से ही निश्चित की गई थी, फलतः उनमें कोई भिन्नता नहीं थी। मानव समाज में उपरोक्त द्विविध निष्ठा का यह सन्देश भारतीय जीवन पद्धति में अनादि काल से ही प्रचलित है। सत्य मार्ग दर्शन तथा प्रेरणा के अभाव में जब कभी भी उसमें विकृति आती है, उस अवस्था में मानव समाज का अव्यवस्थित हो जाना स्वाभाविक ही हो जाता है, जिसको पुनः सुव्यवस्थित करने के लिए किसी शक्ति विशेष का अविर्भाव होता है, जो कि विशुद्ध विज्ञान के प्रकाश में पुनः समाज में उभयविध जीवन प्रणाली की प्रस्थापना करता है।

संक्षेपतः सांख्य सिद्धान्त तथा प्रवृत्ति वा निवृत्ति जीवन प्रणाली पर विचार करने के पश्चात् पुनः उस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सांख्य प्रतिपादित पुरुष तथा प्रकृति के बोध को प्राप्त करने के लिए अभ्यास तथा वैराग्य युक्त ध्यान योग को ही परम साधन के रूप में स्वीकार किया गया है जिसके लिए एकान्तवास तथा संयमित जीवन का होना अति अनिवार्य है। अतः कालान्तर में 'परिव्रज्या ही अनन्त आनन्द तथा मोक्ष को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है', इस प्रकार की मान्यता से

निवृत्ति मार्गावलम्बी जगत के प्रति सारहीनता की भावना बनाकर तत्कालीन समाज की गतिविधियों से स्वयं को सर्वथा उदासीन रखने लगे थे। किसी भी प्रकार की सर्वजनहिताय सामाजिक क्रियायें उनके लिए सदोष वा बन्धनकारक ही प्रतीत होती थी क्योंकि अभ्यास तथा वैराग्य रूपी साधन को ही साध्य स्वीकार कर लेने से विवेकयुक्त कर्त्तव्य की अपेक्षा भ्रमवश सर्वकर्मत्याग ही जीवन में पूर्णता का परिचायक बन गया था।

ॐ

यज्ञमय जीवन

प्राक्कालीन भारतीय ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर तथा वैदिक साहित्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि मानव के लिए सुव्यवस्थित जीवन–यापन की प्रणाली का अवबोधन सृष्टि में प्रकट हुए प्रथम प्रबुद्ध पुरुष को उसके रचयिता द्वारा ही प्राप्त हुआ था। सृष्टि के साथ–साथ जिस जीवन प्रक्रिया की प्रतिष्ठा मानव के लिए की गई थी, उसे यज्ञ के नाम से अभिहित किया गया है। यज्ञ ही जीवन के विकास का आधार है क्योंकि यज्ञ–रहित जीवन में गति तथा वृद्धि का अभाव होता है और विकासप्रिय प्राणी को गति तथा वृद्धिहीन जीवन में जीने की लालसा ही नहीं रहती। अतः उत्थान प्रिय मानव के लिए विकास के आधार रूप यज्ञ विज्ञान को स्वीकार कर तदनुसार जीवन में जीने की व्यवस्था करना परम आवश्यक है। वेद का संदेश है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

(यजु॰ ४०/२)

अर्थात् 'अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार कर्मों को करते हुए ही इस जगत में सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार कर्त्तव्य की दृष्टि से करणीय कर्मों का अनुष्ठान करने से तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होंगे वा लोक संग्रह के लिए अनासक्त भाव से किया जाने वाला कर्म तुझ मनुष्य को बन्धन का कारण नहीं होगा क्योंकि तू समस्त कर्मों

का ज्ञाता वा नेता है। इससे भिन्न अथवा इस भाव से भिन्न अन्य कोई मार्ग तुम्हारे हित के लिए नहीं है'। इस प्रकार वैदिक आदेश के अनुसार क्रियाशील जीवन ही मानव के हित सम्पादन का हेतु बताया गया है क्योंकि–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

(गीता ३/५)

कोई भी कभी क्षण मात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति के प्रतिपल परिवर्तनशील स्वभाव में स्वतः ही क्रिया प्रवाह की अनवरत गति बनी रहती है जिसको कि कभी भी कोई अवरूद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः जब कर्म करते हुए ही जीवन में जीने की व्यवस्था है तो उसे विवेक के प्रकाश में सुव्यवस्थित समाज के विकासार्थ ही क्यों न किया जाये ! इस सम्बन्ध में गीतानाथ का सन्देश है –

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंङ्गः समाचर।।

(गीता ३/६)

'यज्ञार्थ अर्थात् समाज की सुव्यवस्था वा समष्टि के हित के लिए अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य अनुसार निष्काम भाव से किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म जो कि व्यष्टि भाव में आबद्ध हो निज सुख की कामना से प्रेरित होकर आसक्तिवश किये जाते हैं, सभी बन्धन के कारण होते हैं। अतः हे कौन्तेय ! तू आसक्ति रहित होकर तदर्थ वा यज्ञ के निमित ही अपने कर्त्तव्य कर्म का अच्छी प्रकार विवेकयुक्त अनुष्ठान वा आचरण कर। क्योंकि सृष्टि रचना के साथ ही विधाता ने सहयोगात्मक, सद्भावयुक्त, सत्कर्ममय जीवन की व्यवस्था का विधान किया है

और सृष्टि के प्रबुद्ध प्राणी मानव को उसका सन्देश भी दिया है यथा –

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टवा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।

(गीता ३/१०)

'सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति (ब्रह्मा) ने यज्ञ के साथ प्रजा का सृजन करके उसे आदेश दिया कि सहयोगात्मक सत्कर्म रूप इस यज्ञ के द्वारा तुम सब वृद्धि को प्राप्त होवो तथा यह यज्ञ तुम सब के लिए इच्छित कामनाओं के फल को देने वाला होवे'। कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक मानव के जीवन में यज्ञात्मक कर्म निष्ठा की भावना जागृत नहीं होती तब तक उसका जीवन अपने वा समाज किसी के लिए भी उपयोगी नहीं हो सकता। केवल निज सुख–सुविधा की चिन्ता करने वाला व्यक्ति अपने ही कल्याण का संपादक नहीं हो सकता फिर अन्य की तो बात ही क्या। भगवान् का सन्देश है–

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।

(गीता ४/३१)

'हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से अवशेष अमृत को भोगने वाले समत्व योगीजन सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं अर्थात् समष्टि की सेवा में स्वकर्मफल का समर्पण कर बचे हुए फल का उचित मात्रा में उपयोग वा सर्वात्मभाव से युक्त हो संग्रह के लिए योग्यता अनुसार कर्म करने से उसके परिणाम में मिले हुए फल का केवल अपने भाग को भोगने वाले लोग परमानन्द को प्राप्त होते हैं। किन्तु उपरोक्त विधि से कर्मानुष्ठान कर स्वार्थरत हो यज्ञ रहित पुरुष जो केवल अपनी पूर्ति के लिए ही कर्म में लगे रहते हैं, उन्हें इस

जीवन में ही सुख–शान्ति नहीं होती तो फिर अन्य परलोक

अर्थात् दूसरे जन्म में कैसे होगी? अतः जीवन में वर्तमान को सुख–सुविधा युक्त सौंदर्यमय बनाने के लिए तथा विशुद्ध संस्कारों के परिणाम स्वरूप मृत्यु के पश्चात् भी भविष्य में पुनः शान्ति की उपलब्धि हेतु यज्ञमय जीवन विधान की प्रक्रिया का अवलम्बन अनिवार्य है। वैदिक नियमानुसार माँ के गर्भ में आने पर गर्भाधान संस्कार से लेकर मृत्यु पर्यन्त षोडश संस्कार के रूप में दिव्य यज्ञात्मक प्रणाली की प्रेरणा से ही भारतीय जीवन को पूर्णता की उपलब्धि तक व्यवस्थित किया जाता है।

विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही (यज्ञस्यदेवे) यज्ञदेव की स्तुति से यज्ञ का परिचय प्राप्त होता है। इतना ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में याज्ञिक प्रक्रिया का ही विस्तृत विवेचन मिलता है। संहिता साहित्य में जहाँ याज्ञिक अनुष्ठानों को ध्यान में रखकर भिन्न–२ ऋतिव्जों से उपयोग के लिए प्रधानतः स्तवनात्मक मन्त्रों का संकलन है, वहाँ ब्राह्मण साहित्य में उन्हीं की विधि–विनियोगमय व्याख्या एवं यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा उपलब्ध होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट रूप आरण्यकों में याज्ञिक अनुष्ठानों के रहस्य का एवं सूत्र ग्रन्थों में उनका कर्मकाण्डात्मक क्रमबद्ध प्रतिपादन प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य याज्ञिक प्रक्रिया की साङ्गोपाङ्ग पूर्ति की विवेचना से ही परिपूर्ण है।

सर्वप्रथम अव यहाँ पर हमें इस विषय में गहराई से विचार करना होगा कि वैदिक साहित्य में जिस यज्ञ की इतनी महिमा है, उसका क्या स्वरूप है। भिन्न–२ ग्रन्थों में यज्ञ शब्द की भिन्न–२ प्रकार की परिभाषाएं तथा भिन्न–२ अर्थ उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मर्षियों ने जहाँ यज्ञमय प्रक्रिया को ही जीवन के सर्वतोमुखी विकास का हेतु बताया है वहाँ यज्ञ शब्द की व्यवस्था

में आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दृष्टि से समष्टि के कल्याणार्थ क्रियात्मक रूप में सुसंगठित सामाजिक सुव्यवस्था का भी विधान निहित किया है। यजुर्वेद के अनुसार 'यज्ञोवैश्रेष्ठतमं कर्म' अर्थात् यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। इसका अभिप्राय जो कुछ भी सर्वजनहिताय जीवनोपयोगी श्रेष्ठतम कर्म है वह सभी यज्ञ के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषदों में यज्ञ के आध्यामिक स्वरूप का विवेचन किया गया है और यही वैदिक विज्ञान का सार है। मैत्रेय उपनिषद् में यज्ञ के विषय में—'यज्ञोविष्णु प्रजापति' अर्थात् यज्ञ ही प्रजा का पालक, रक्षक तथा सर्वव्यापी विष्णु है, ऐसा वर्णित है। इसीलिए वृहदारण्यकोपनिषद् में "त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञः" अर्थात् 'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है' इस प्रकार उस आधार रूप ब्रह्म को ही यज्ञ के रूप में प्रतिपादित किया है। तैत्तिरीयोपनिषत् के अनुसार 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' अर्थात् 'विज्ञान रूपी यज्ञ विस्तार को प्राप्त होता है', ऐसा कहा गया है जिसका अभिप्राय है यज्ञ—विज्ञान ही जीवन में गति तथा वृद्धि का उत्तम आधार है क्योंकि 'यज्ञेन देवाः दिवंगताः' अर्थात् 'यज्ञ से ही देवता स्वर्ग धाम को प्राप्त हुए हैं।' छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि —

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोध्ययनं दानमिति।

(छान्दोग्य० २/२३—१)

अर्थात् धर्म के तीन स्कन्ध हैं जिनमें यज्ञ का प्रथम स्थान है। अन्य मन्त्र में यज्ञ के स्वरूप तथा महिमा का गान करते हुए कहा गया है—

यदेष यन्निदँ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः।

(छान्दोग्य० ४/१६—१)

'जो यह सब कुछ को पवित्र करता है, उसे ही यज्ञ कहा जाता है।' कहने का अभिप्राय यह है कि जिससे या जिस क्रिया के द्वारा यह सम्पूर्ण जड़—चेतनात्मक जगत् पुनीत, परिमार्जित तथा

परिशुद्ध हो सात्त्विक सुव्यवस्था को प्राप्त होता है, वही यज्ञ है। इस मन्त्र से यह बात स्पष्ट हो गई है कि यज्ञ का अभिप्राय जीवन की उस सदाचार, सद्व्यवहारमय प्रणाली से है, जिससे व्यक्ति अपने सहित समष्टि के हित सम्पादन में प्रवृत्त होता है। केवल किसी विधि–विशेष से सम्पादित हवनादि क्रिया–विशेष को ही यज्ञ नहीं कहा गया है क्योंकि –

यज्ञो वै विष्णुः यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि।

अर्थात् निश्चय ही यज्ञ साक्षात् उस परम आधार सर्वव्यापी विष्णु का स्वरूप है। चराचर का परमाश्रय होने से समस्त भूत प्राणी यज्ञ में ही विश्राम पाते हैं।

उपरोक्त विवेचन से वेद, उपनिषद्, गीता आदि समस्त जीवन के विधायक सत्शास्त्रों से यह ज्ञात हुआ कि व्यक्ति, समाज वा राष्ट्र के जीवन को सुन्दर, सुखमय तथा सुव्यवस्थित बनाने के लिए आध्यात्मिक जीवन पद्धति वा याज्ञिक प्रणाली ही एक मात्र साधन है। इसीलिए जो लोग यज्ञ से रहित अयाज्ञिक हैं, वैदिक शास्त्र में उनकी बड़े कठोर शब्दों में भर्त्सना की गई है। अथर्ववेद में कहा गया है –

अयज्ञियो हतवर्चा भवति।

जो यज्ञानुष्ठान नहीं करता उसका तेज नष्ट हो जाता है वा निस्तेज हो जाता है। इतना ही नहीं ऋग्वेद का सन्देश है 'अयज्वानः सनका प्रेतिभियुः' यज्ञ न करने वाले लोग दान कर्त्ता होने पर भी नाश को प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में पतनोन्मुख वृत्ति को प्राप्त हुए यज्ञहीन व्यक्तियों के विषय में कहा गया है –

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीरँश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्।।

(ऋग्वेद ७/६–३)

अर्थात् (अक्रतून्) आलसी, (ग्रथिनः) केवल ग्रन्थ का पाठ करने

वाले अर्थात् शास्त्रानुसार आचरण न कर केवल उसके पाठ मात्र से पाण्डित्य का प्रदर्शन करने वाले, (मृध्रवाचः) असत्य भाषण करने वाले, (पणीत) सूद का व्यवहार करने वाले, (अश्रद्धान्) श्रद्धा से रहित, (अवृद्धान्) वृद्धि का उपाय न करने वाले प्रमादी, (अयज्ञान्) यज्ञ न करने वाले, (अयज्यून्) सत्कर्म न करने वाले, ये सभी लोग समाज के लिए घातक (दस्यून) शत्रु हैं। अतः इनको (अग्नि) तेजस्वीदेव (प्र प्र विवाय) विशेषता से अवनत करता है तथा (अपराञ्चकार) नीचे करता है। अभिप्राय यह है कि उपरोक्त प्रकार के समाज विरोधी वा अहितकर, यज्ञ भाव रहित विपरीत आचरण करने वाले व्यक्तियों की वृद्धि नहीं होती अर्थात् वे जीवन के उद्देश्य रूप गति तथा निर्माण की अभिलाषा पूर्ति की सफलता से वंचित हो पतन को ही प्राप्त होते हैं।

इन समस्त यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों की विश्लेषणात्मक विवेचना का सारांश इतना ही है कि व्यक्ति, जाति, समाज तथा रास्ट्र के जीवन में अभ्युदय युक्त उच्चतम अवस्था तक पहुँच कर निःश्रेयस की सिद्धि को प्राप्त करने के लिए वैदिक सिद्धान्तानुसार यज्ञ विधान ही एकमात्र सुन्दर साधन है। विशेष रूप से वैदिक वाङ्मय में यज्ञ का वर्णन त्रिविध रूप से किया गया है— आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक जिनको क्रमशः ज्ञान, उपासना तथा कर्मकाण्ड के नाम से कह सकते हैं।

आधिदैविक परिभाषा में यह सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक ब्रह्माण्ड यज्ञ से ही उत्पन्न हो सतत यज्ञमय क्रियाओं के द्वारा ही परिचालित हो रहा है। इस विषय में पुरुषसूक्त में कहा गया है—

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः।।

(पुरुषसूक्त १४)

अर्थात् उस अनन्त से उत्पन्न हुए देवताओं ने उस पुरुष के

विराट् (ब्रह्माण्ड) रूप शरीर में हविष्य की भावना करके यज्ञ का विस्तार किया। उस यज्ञ में बसन्त ऋतु घृत, ग्रीष्म ऋतु ईंधन और सरद ऋतु हविः (चरुपुरोडाशादि) हुए। साराँशतः उपरोक्त मन्त्र में सृष्टि के आधार रूप तेज, अप, अन्न के स्थान में बसन्त, ग्रीष्म तथा सरद ऋतु का संकेत किया गया है तथा ईश्वरीय दिव्य विधान से आधिदैविक यज्ञ की व्यवस्था में अनवरत गति से इसप्रकार से सृष्टि रूप यज्ञ का सत्र दिव्य सौ वर्षों तक अर्थात् पौराणिक भाषा में ब्रह्मा की पूर्ण आयु तक चलता रहता है। आधिदैविक यज्ञ ही आध्यात्मिक यज्ञ का आधार है।

आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति का जीवन ही स्वयं में एक नित्य यज्ञ सत्र है।

स्व शरीरे यज्ञं परिवर्तयामी।

अपने शरीर में यज्ञ का परिवर्तन करते हैं क्योंकि 'शरीरं यज्ञः' शरीर यज्ञ है। इसके सर्वांङ्गीण रूप की व्याख्या करते हुए उपनिषद् में कहा गया है –

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग् होता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वयुर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद्यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानं।।

(नारायणोपनिषद्–८०)

अर्थात् इस शरीरस्थानि यज्ञ में आत्मा यजमान, श्रद्धा पत्नी, शरीर ईंधन, उर (वक्षस्थल) वेदी, रोम वर ही (दर्वकुशः), वेद शिखा, हृदय धूप, काम घृत, क्रोध पशु, तप अग्नि, दम क्रोध का शमन करने वाला, दक्षिणा वाक् होता, प्राण उद्गाता, चक्षु अध्वर्यु, मन ब्रह्मा, श्रोत्र अग्नि प्रदीप्त करने वाला, जीवित रहने तक इस यज्ञ की दीक्षा है। जो खाया जाता है वह हवि है, जो पीया

जाता है वह सोमरस है। इस प्रकार यह यज्ञ चल रहा है। यजुर्वेद में कहा है–

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

(यजुर्वेद ३४/५५)

अर्थात् सप्त ऋषि इस शरीर में निवास करते हुए इस यज्ञ स्थान की प्रमाद रहित हो रक्षा करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का शरीर यज्ञमय साधनों का अधिष्ठान तथा जीवन यज्ञानुष्ठान है जिसके फलस्वरूप शान्तं शिवं अद्वैतं की प्रतिष्ठा ही प्राप्त तत्त्व है।

जिस प्रकार समष्टि रूप में सर्वजनहिताय ईश्वरीय विधान से आधिदैविक यज्ञानुष्ठान की प्रक्रिया अनवरत गति से चल रही है तथा आध्यात्मिक रूप से व्यक्ति के जीवन में भी प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः उस यज्ञ का अनुष्ठान हो रहा है, ठीक उसी प्रकार आधिभौतिक जगत् में भी विभिन्न प्रकार के द्रव्यों द्वारा विभिन्न प्रकार से यज्ञानुष्ठान करके मानव अपनी विविध प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करे। इस प्रकार वैदिक विधान में जीवन की व्यवस्था का समुचित सन्देश है।

आधिदैविक यज्ञ में सृष्टि प्रवाह की प्रक्रिया के बोध को ज्ञानयज्ञ तथा आध्यात्मिक यज्ञमय प्रक्रिया की भावना को उपासना यज्ञ कहा गया है एवं वैयक्तिक वा सामाजिक जीवन में प्रगति तथा निर्माण के लिए कर्मयज्ञ का विधान किया है।

यद्यपि वैदिक साहित्य में वृहद् रूप से अनेक प्रकार के यज्ञों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है किन्तु यहाँ पर अथर्ववेद के सन्देशानुसार आवश्यक यज्ञों का परिचय देना ही पर्याप्त होगा।

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
अर्काश्वमेधा वुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः।।

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्द सा सह।
उत्सन्ना यज्ञा सत्त्राव्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः।।
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषटकारो व्रतं तपः।
चर्तुहोतार आप्रियश्चार्तुमास्यानि नीविदः।।
(अथर्व॰ ७/४/७,८,६,१६)

उपरोक्त मन्त्रों में राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोमं, अश्वमेध, अग्निहोत्र, अग्नयाधान और चातुर्मास्य आदि अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन आता है। गोपथ ब्रह्माण इन यज्ञों का जो क्रम बतलाता है, उस क्रम में अग्नयाधान, पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दशपूर्णमास, अग्रहायण और चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, दक्षिणा वाले, बहु दक्षिणा वाले, असंख्य दक्षिणा वाले यज्ञों का वर्णन है। अन्त में कहा गया है –

स य एवमेतान यज्ञ क्रमान वेद यज्ञेन स।
आत्मा सलोको भूत्वा देवानप्येति इति ब्राह्मणम्।।

अर्थात् जो' इन यज्ञ क्रमों को जानता है, वह यज्ञों के साथ एकात्म भाव को प्राप्त होकर देवताओं के दिव्य भाव को प्राप्त होता है। इसके 'विपरीत अतिरिक्त आरोग्यता, सन्तान, वृष्टि, सम्पत्ति आदि के लिए भैषज्य यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ, अवहषण यज्ञ एवं गोमेध यज्ञ आदि की व्यवस्था है।

सर्वजनहिताय की भावनामय क्रिया पद्धति को सृष्टि के समस्त मानव जाति में प्रचारित वा प्रसारित करने के लिये उन्हें एक जीवन विधान में आबद्ध करना आवश्यक होता है। एतदर्थ राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ का विधान किया गया है जिससे सम्राट पद को प्राप्त हुए सर्वगुण सम्पन्न कुशल नेता के द्वारा सामाजिक जीवन में गति तथा निर्माण की व्यवस्था हो सके।

इसी प्रकार मानव अपने परिश्रम तथा प्रकृति के सहयोग से प्राप्त किये हुए पदार्थों को विभिन्न प्रकार के सृष्टिगत प्राणियों

तथा असमर्थ असहाय व्यक्तियों की सेवा में समर्पित कर सके, इस के लिए पंच महायज्ञ का दैनिक विधान निश्चित किया गया है। सृष्टि के साथ–साथ त्रिविध यज्ञ के विधान का सन्देश मानव को आदिकाल से ही उपलब्ध हुआ है, यह भारतीय मनीषियों का निश्चित मत है।

दिव्य यज्ञ विज्ञान के आधार पर ही पूर्वकालीन भारत में वनस्पति विज्ञान, रसायन विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, गणित विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, वास्तुकला, शिल्पकला, संगीतकला, चित्रकला, युद्धकला इतना ही नहीं बल्कि चौंसठ कला युक्त चतुर्दश विधाओं का आविर्भाव हुआ। राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो भारतीय नागरिक वैदिक काल से समस्त भू–मण्डल को एक राष्ट्र के रूप में देखने का महत्वाकाँक्षी था। एतदर्थ लोकप्रियता तथा राष्ट्रीयता की जागृति के लिये राजसूय तथा अश्वमेध आदि यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। या यूं कहिये कि वाजिमेध एवं राजसूय यज्ञ विधान की प्रेरणा से ही भरतीय जनजीवन में आ–समुद्र पर्यन्त एक राष्ट्र की यह महत्वाकांक्षा जागृत होती थी। इतना ही नहीं मानवता की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए सभी प्रकार की जीवनोपयोगी समुचित सामग्री का उत्पादन, संचय एवं वितरण भी यज्ञमय भावना से किया जाता था। मानव समाज में योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार अनेक प्रकार के गुण–कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था तथा तदनुसार संगठनात्मक जीवन प्रणाली भी याज्ञिक प्रक्रिया की ही देन है। यदि यह कहा जाये कि यज्ञमय जीवन विधान की व्यवस्था ही विश्व को आलोकित करने वाली श्रेष्ठतम भारतीय दिव्य संस्कृति तथा सभ्यता की जननी है तो अत्युक्ति न होगी। अतः त्रितापों से मुक्त हो सुखशान्तिमय

जीवन की व्यवस्था के लिए मानव को त्रिविध यज्ञ विधान को

बोध प्राप्त करना परमावश्यक है।

वैदिक वाङ्मय के माध्यम से यज्ञ का संक्षिप्त परिचय देने के पश्चात् अब आगे शब्दानुशासन के प्रणेता महर्षि पाणिनि के मतानुसार यज्ञ शब्द की परिभाषा को समझने के लिए विचार किया जायेगा।

ॐ

यज् देव पूजायाम्

वैदिक काल की उस संध्या वेला में विचारवान् त्यागी महापुरुषों, विद्वान् कर्मकाण्डी पण्डितों, शासकों तथा धनाधिपतियों की भिन्न–२ दिशाओं में प्रवृत्ति होने से तत्कालीन सामाजिक संगठन छिन्न–भिन्न प्रायः होता जा रहा था। एक ओर तो कुछ लोग सर्वत्याग कर मोक्ष की प्राप्ति के लिये समाज से उदासीन थे तो दूसरी ओर कुछ लोग स्वर्ग के अक्षय सुख सम्पादन के लिये कर्मकाण्ड के द्वारा द्रव्ययज्ञ के विविध अनुष्ठान में ही लीन रहते थे। जबकि वैदिक युग के मध्यकालीन वाल्मीकि रामायण में पूर्ण श्रद्धायुक्त त्रिविध यज्ञ विज्ञान की पुनीत भावना से भावित सम्पूर्ण समाज में आध्यात्मिक जीवन प्रक्रिया के अनुसार सर्वजन–हिताय यज्ञानुष्ठान तथा तत्त्वचिन्तन की विशुद्ध त्रिवेणी धारा का दर्शन होता है, वहाँ वैदिक युग के अन्त महाभारतकालीन भारत में इसका पूर्ण अभाव सा प्रतीत होता है। तत्कालीन सामाजिक अवस्था का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस समय के शासक वर्ग में ऋषियों की सर्वजनहितकारी वाणी का स्वागत करना प्रायः समाप्त हो चुका था। अधिकांश राज्यों में प्रजा की इच्छा के विरूद्ध वंशगत परम्परा के आधार पर ही राज्याधिकार को प्राप्त करने की परिपाटी चल पड़ी थी। विभिन्न प्रकार की जातिगत परम्पराओं में रूढ़ भाव तथा उनका ही जीवन में प्रभुत्व होता जा रहा था। तपःपूत महर्षियों द्वारा निर्मित सामाजिक सुव्यवस्था के विधान की उपेक्षा होने लगी थी तथा विशुद्ध वैदिक

यज्ञमय जीवन–विज्ञान की प्रणाली का ह्रास होता जा रहा था। प्रत्येक क्षेत्र में शंका एवं संदेह से युक्त भय तथा चिन्तामय जीवन में अव्यवस्था की ही प्रधानता होती जा रही थी। अनिश्चित जीवन की स्थिति में तत्कालीन मानव समाज उचित मार्ग से भटक चुका था। ऐसी स्थिति में ही –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

(गीता ४/७)

"हे भारत! जब–२ धर्म का ह्रास तथा अधर्म की वृद्धि होती है, उस अवस्था में सामाजिक सुव्यवस्था को प्रस्थापित करने के लिये मैं स्वयं को प्रकट करता हूँ"। इस प्रतिज्ञा के अनुसार विश्व की आधारभूता वह महान् शक्ति लोकहितकारी दिव्य गुणगणनिधान, सर्वकलासम्पन्न, सर्वविद्याविशारद युगपुरुष, योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण के रूप में आविर्भूत हुई। उन्होंने तत्कालीन समस्त प्रचलित रूढ़ मान्यताओं की काई को हटा कर समाज को स्वच्छता तथा स्वस्थता प्रदान करने के लिये पुनः भारत की प्राचीन जीवन–पद्धति की आधार रूप सांख्य योगनिष्ठा की प्रतिष्ठा की। सर्वजनहितकारी जीवन में जीने की कला की सीख को पुनः साकार रूप में प्रचारित व प्रसारित किया। जिसका संदेश आज भी हमें सर्वांगीण रूप में गीता द्वारा उपलब्ध होता है।

पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य जीवन विधान की परम्परागत प्रणाली का बोध कराते हुये बताया कि मानव जीवन के विकासार्थ जिस दिव्य योग विद्या का उपदेश मैंने सृष्टि के प्रथम पुरुष विवस्वान् को दिया था, वह अमित काल तक, परम्परा से मानव जाति का मार्गदर्शन करता आ रहा था। किन्तु इस समय कालक्रम से उसका ह्रास पुनः हो गया है, अतः वही विद्या मैंने तेरे लिए पुनः बताई है क्योंकि तू मेरा मित्र

है और भक्त भी है। अर्जुन के इस संदेह पर कि 'आपका जन्म तो इस काल का अर्थात् कुछ काल पूर्व का है तथा विवस्वान् सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, आपने ही उन्हें इस योग विद्या का संदेश कैसे दिया'? उत्तर में भगवान् ने अपने अवतरण तथा दिव्य जन्म कर्म के रहस्य का उद्घाटन करते हुए 'मुख्य रूप से दुष्कृतिनों अर्थात् समाज विरोधी तत्त्वों का संहार तथा सर्वहितकारी कार्यरत साधु-पुरुषों की सुरक्षा द्वारा धर्ममय जीवन विधान की व्यवस्था की स्थापनार्थ ही अपने प्राकट्य को हेतु बनाया'।

यह बात यहाँ पर समझ लेनी है कि सृष्टि-विधान में जब कभी भी कहीं भी अव्यवस्था का जन्म होता है वा यूं कहिये कि मानव अपनी मानवता से विमुख हो दानवता की नीति अपना कर साधुजनोत्पीड़क क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाता है, उस अवस्था में मंगलमय विधान से एक विशिष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, जो कि तत्कालीन समाज से विध्वंसात्मक शक्तियों का मूलोच्छेदन कर सुव्यवस्थित समाज की प्रतिष्ठा करके सामान्य जनमानस को एक निश्चित दिशा प्रदान कर उनके कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। अध्ययन करने पर यह नियम सृष्टि के प्रत्येक युगीन इतिहास में उपलब्ध होगा।

अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से एक अनन्त चिन्मय सत्ता जो कि ज्ञान, भाव तथा क्रिया शक्ति से युक्त हो सृष्टि के संचालन में सतत कार्य कर रही है, जिसका अव्यक्त रूप ही समस्त चैतन्य प्राणी जगत का आधार है, वही शक्ति अवस्था वा परिस्थिति विशेष में प्रकट हो समाज के सुसंचालन का कार्य करती है, उसके जन्म और कर्म स्वसुखेच्छा तथा कर्म संस्कार-जन्य न होकर करुणा से अभिभूत तथा सर्वजनहिताय होते हैं, इसी से उसे अवतार वा युग पुरुष के रूप में समाज स्वीकार करता है। यह बात केवल श्रद्धा पर ही अवलम्बित न होकर विवेक युक्त

बुद्धि के लिए भी ग्राह्य है।

विवेक युक्त दिव्य यज्ञमय जीवन का विशुद्ध रूप हमें पुनः गीता के माध्यम से उपलब्ध हुआ। इससे पहले कि गीता के अनुसार यज्ञमय जीवन की व्यवस्था पर विचार करें, हमें यज्ञ शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

शब्दानुशासन के प्रणेता महर्षि पाणिनी के मतानुसार यज् धातु से यज्ञ शब्द निष्पन्न होता है जिसका धातुज अर्थ है –

यज् देव पूजायां संगतिकरणे दाने।

अर्थात् देव पूजन, संगतिकरण तथा दान। इस यज्ञ शब्द में मानव जीवन की वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय व्यवस्था का सम्पूर्ण विधान निहितं है। देव पूजन से शक्ति प्राप्त कर संगतिकरण द्वारा सुसंगठित हो सर्वजनहिताय उस शक्ति का दान अर्थात् समर्पण करना ही पूर्ण यज्ञ का स्वरूप है। इस याज्ञिक प्रणाली में देव पूजन ही शक्ति सम्पादन का एक मात्र साधन बताया गया है। अतः देव तत्त्व क्या है, हमें इस पर भी विचार कर लेना है।

देव शब्द भी अपने में एक महान् अर्थ रखता है। इस अर्थ गाम्भीर्य को समझे बिना वास्तविक रूप में देवपूजन का रहस्य जानना कठिन ही नहीं बल्कि सर्वथा असम्भव है। 'दिवि प्रकाशने' धातु से देव शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है प्रकाशयुक्त वा प्रकाश करने वाली दिव्य शक्ति। तत्त्वतः तो विश्व के समस्त प्रकाशमान पदार्थों का एक ही प्रकाशक है, उसी के लिए वेद कहता है–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

(कठ० २/३–१०)

अर्थात् वहाँ (उस देव को) न तो सूर्य प्रकाश फैला सकता है न

चन्द्रमा न तारागण का समुदाय और न ये बिजलियाँ ही वहाँ प्रकाशित होती हैं, तो फिर इस लौकिक अग्नि की गति ही कहाँ है? उसी के प्रकाश से ऊपर कहे सूर्यादि सब प्रकाशित होते हैं और उसका प्रकाश ही सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है। गीता में भी कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।

(गीता १३/१७)

"वह परम देव ज्योतियों का भी ज्योति माया से अति परे कहा जाता है।" वह परमात्मा बोधस्वरूप और जानने के योग्य है एवं तत्त्व ज्ञान से प्राप्त होने वाला और सब के हृदय में स्थित है। सारांशत जहाँ कहीं भी जो भी प्रकाशमान तत्त्व है, उस सब के आधार रूप में वह एक ही परम देव की दिव्य शक्ति विद्यमान है।

उसी देव की आराधना, उपासना, अर्चना ही देव पूजन है। उसके अनन्त दिव्य गुण गणों का चिन्तन, मनन, ध्यान ही मानव में दिव्यता के अवतरण का प्रमुख स्रोत है। उस देव की आराधना करके ही मनुष्य अपने जीवन को समग्र रूप से दिव्यता में रूपान्तरित कर स्वयं को कृत–कृत्य कर सकेगा। यज्ञमय जीवन विधान में देव पूजा का यही अभिप्राय है। देव पूजा ही जीवन को समग्र रूप से दिव्यता में रूपान्तरित करने का एक मात्र साधन है।

अब यहाँ पर एक बहुत पुरानी शंका जो कि सामान्य लोगों में ही नहीं बल्कि तथाकथित शिक्षित वर्ग के वरिष्ठ विद्वानों में भी है जो पाश्चात्य दृष्टिकोण से ही भारतीय साहित्यिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को समझने के आदि हैं, अपना पूर्ण अधिकार जमाये हुए है, उस पर भी हमें विचार कर लेना है।

अधिकांश लोग जो कि भारत के अध्यात्मवादी रहस्य को

नहीं समझ पाए हैं, कहते हुए सुने जाते हैं कि भारतीय (हिन्दू) अनेकों देवी—देवताओं की उपासना करते हैं। कुछ हिन्दू एकता के पुजारी विद्वानों कीं तो यह आम राय है कि हम हिन्दुओं के एक देवता, एक धर्म ग्रन्थ तथा एक तीर्थ स्थान नहीं हैं इसलिये हममें आस्था के एक आधार का अभाव है जिसके कारण हमारा संगठन नहीं हो पाता। ऐसे लोगों की मान्यता है कि बहुदेव उपासना विघटनकारी तथा अज्ञानता का ही प्रतीक है, अतः इसे शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देना चाहिये। भारतीय चिन्तनधारा से अनभिज्ञ अनेक पाश्चात्य पण्डितों ने भी हिन्दुओं की इस बहुदेव पूजन की पद्धति के रहस्य को न समझ कर उसे अन्धविश्वास का ही प्रतीक माना है। अतः इसका स्पष्टीकरण किये बिना लोगों के दिल—दिमाग में यह प्रश्न बना ही रहेगा कि यह बहुदेव पूजा क्यों तथा उसका दार्शनिक आधार क्या है? मेरे विचार से वैदिक कालीन देवता शब्द की व्याख्या को बिना समझे ही इस प्रकार की भ्रमोत्पादक भावनाओं का जन्म होता है। अतः उसे समझ लेने पर ही समुचित समाधान हो सकेगा।

सर्वप्रथम तो यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि व्याकरण के नियमानुसार देव शब्द पुलिंग तथा देवता शब्द स्त्रीलिंग है। देवता शब्द का अभिप्राय है उस परम देव की दिव्य शक्ति को अभिव्यक्त करने का माध्यम अर्थात् देवता उस परम देव की दिव्य शक्ति के प्राकट्य का माध्यम मात्र है। सारांशतः अनेकों देवताओं के माध्यम से उस एक ही देव की दिव्य शक्ति का प्राकट्य हो रहा है। अतः अब हम इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए वैदिक साहित्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

वैदिक साहित्य में हमें उस देव की शक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम रूप विभिन्न देवताओं का वर्णन मिलता है। यथा —

अग्निर्देवता। वातो देवता। सूर्यो देवता। चन्द्रमा देवता। वसवो देवता। रुद्रो देवता। आदित्या देवता। मरुतो देवता। विश्वे देवा देवता। बृहस्पतिर्देवता। इन्द्रो देवता। वरुणो देवता।
(यजुर्वेद १४/२०)

किन्तु उपरोक्त समस्त देवताओं के स्वरूप में उसी एक परम देव की शक्ति का प्राकट्य हो रहा है अर्थात् यूँ कहिये कि उपरोक्त सभी नाम रूपों में एक देव की ही महिमा का वर्णन है। यथा–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।
(यजुर्वेद ३२/१)

अर्थात् 'वही एक देव अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्मा, आपः (जल) आदि देवताओं के रूप में अभिव्यक्त है तथा वही प्रजापति भी है'। ऋग्वेद में इस विषय को और स्पष्ट करते हुये कहा गया है–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।
(ऋग्वेद १/१६४–४६)

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि विविध नामों से विद्वत्जन ब्रह्मवादी ऋषिजन उसी एक सत् तत्त्व परम देव की महिमा का वर्णन करते हैं और अन्यत्र भी कहा है –

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
(श्वेता॰ ३/२)

अर्थात् जो अपनी स्वरूपभूत विविध शासन शक्तियों द्वारा इन सब लोकों पर शासन करता है, वह रुद्र एक ही है, इसीलिये विद्वान पुरुषों ने जगत् के कारण का निश्चिय करते समय दूसरे का

आश्रय नहीं लिया। इतना ही नहीं बल्कि इस विषय में श्रुति का संदेश है–

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।

(श्वेता० ३/४)

'अर्थात् जो रुद्र (परम देव) इन्द्रादि देवताओं को उत्पन्न करने वाला और बढ़ाने वाला है तथा जो विश्व का अधिपति और महान् ज्ञानी है'। उपरोक्त वैदिक मन्त्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनेक देवताओं के रूप में उसी एक परम देव की प्रतिष्ठा है अथवा वह एक ही देव सम्पूर्ण देवताओं के माध्यम से अपनी शक्ति को अभिव्यक्त कर जगद् व्यापार का सञ्चालन कर रहा है। इस विषय में भगवान् का संदेश है–

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।

(गीता १०/४१)

अर्थात् जो–२ भी विभूतियुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्ति युक्त वस्तु है, उस को तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान। इतना ही नहीं बल्कि विभूतियोग में विश्व के समस्त जड़–चेतनात्मक पदार्थों को प्रभु ने अपनी विभूति के रूप में अभिव्यक्त हुआ वर्णित किया है क्योंकि उन्हीं के शब्दों में–

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७/७)

हे धनञ्जय! "मेरे से परे अन्य कुछ भी नहीं है" तथा 'एकांशेन स्थितो जगत' मेरे एक अंश से सारा जगत् स्थित है। वेद भी कहता है–"पुरुषएवेदं सर्वं" वह एक पुरुष ही सर्व रूप में प्रतिष्ठित है। कहने का अभिप्राय वैदिक सिद्धान्तानुयायी भारतीय जीवन पद्धति में बहुदेवोपासना नहीं बल्कि अनेकों देवताओं के माध्यम से उस एक ही परम देव की आराधना होती है क्योंकि ये सभी

देवता उस एक अनन्त की अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र हैं।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि जब सभी देवताओं के माध्यम से उस एक परम देवता का पूजन होता है तो मूल में उसी एक को क्यों न पूजा जाय? इस विषय में यह बात समझ लेनी चाहिये कि अनन्त की अभिव्यक्ति के माध्यम रूप सृष्टि का प्रत्येक तत्त्व अपने में एक विशिष्ट गुण लिये हुए है। भिन्न–२ माध्यमों से प्रकट होने वाली यह दिव्य शक्ति भिन्न–२ प्रकार के जीवनोपयोगी तत्त्वों को प्रकट करती है। उदाहरणतया जिस प्रकार विद्युत "बल्ब से प्रकाश, पंखे से हवा, हीटर से गर्मी, कूलर से ठण्डी, रेडियो से शब्द" इतना ही नहीं अनेक प्रकार के यन्त्रों द्वारा अनेक कार्यों का सम्पादन करती है; ठीक उसी प्रकार विभिन्न तत्त्वों के माध्यम से उस अनन्त महिमामय परम देव की अनन्त विभूतियां प्रकट हो सृष्टि का सञ्चालन कार्य सम्पन्न करती हैं। जिस प्रकार विभिन्न यन्त्रों में कार्य करने वाली विद्युत शक्ति समान है, उसी प्रकार पदार्थ भेद होते हुये भी उनके आधार में एक ही अनन्त शक्ति समान रूप से विद्यमान है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं।

अब रही उपासना की बात वह तो उपरोक्त विवेचना से स्वतः सिद्ध हो गया कि जैसे हवा के लिए पंखे का, गर्मी के लिए कूलर का, सर्दी के लिये हीटर का, प्रकाश के लिए बल्ब का तथा विभिन्न क्षेत्रों में समाचार वा मनोरञ्जनार्थ कार्यक्रम को सुनने के लिये रेडियो का बटन दबा कर तत् सुविधा को प्राप्त किया जाता है, ठीक उसी प्रकार साधक के जीवन में सृष्टि के जिस प्रकार के तत्त्वों का अभाव वा आवश्यकता प्रतीत होती है, वह उसी के आधार रूप देवता की आराधना कर उसे प्राप्त करता है। जैसे वृष्टि के लिए उसके अधिदेव इन्द्र की, आरोग्यता के लिये सूर्य की तथा रस के अभिलाषी को चन्द्रमा की, इतना

ही नहीं बल्कि भिन्न–२ पदार्थों की अभिलाषा पूर्ति के लिए भिन्न–२ देव आराधन का विधान किया गया है, जो कि वैदिक विज्ञानानुसार उपयुक्त भी है तथा ग्राह्य भी। हिन्दू जीवन पद्धति में इस प्रकार ३३ कोटि देवता की उपासना प्रचलित है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि देवोपासना के विधान में उनका अभिप्राय व इतिहास क्या है?

संस्कृत भाषा में 'कोटि' शब्द का अर्थ प्रकार भी होता है। उपनिषदों में यही अर्थ घटित होता है। इन ३३ कोटि वा प्रकार के देवताओं का विवरण बृहदारण्यकोपनिषद् (३,६,१–६) के 'याज्ञवल्क्य–शाकल्य' सम्वाद में इस प्रकार से प्राप्त होता है– आठ वसु (अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यूलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र), ग्यारह रुद्र (पांच कर्मेन्द्रियां, पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन), बारह आदित्य (संवत्सर के अवयवभूत बारह मास) इन्द्र तथा प्रजापति। सम्पूर्ण सृष्टि के बसने का जो आधार है अर्थात् जिसमें सम्पूर्ण विश्व बसा है, वही अष्ठ प्रकार के आधार वसु नाम से कहे जाते हैं। व्यक्ति के शरीर में दस इन्द्रियों सहित मन को ग्यारह रुद्र कहते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा अनेक प्रकार के विषयों का चिन्तन वा उपभोग कर मानव आसक्तिवश हो रोता है, इसलिये इन्हें रुद्र कहा गया है। अथवा इस मरणशील शरीर में मृत्यु के समय इनके उत्क्रमण करने पर उसके सम्बन्धियों को रोना पड़ता है, अतः रूलाने के कारण होने से ही रुद्र कहलाये जाते हैं। सम्वत्सर के अवयवभूत बारह मासों को आदित्य इसलिये कहा जाता है कि ये ही सृष्टि में सबका आदान अर्थात् ग्रहण करते हुए चलते हैं। समष्टि विद्युत शक्ति जो शरीर में ताप रूप से विद्यमान है वही इन्द्र है और जीवन शक्ति प्राण ही प्रजापति है।

उपर्युक्त ३३ कोटि देवतागण जिस प्रकार समष्टि रूप से

ब्रह्माण्ड में अवस्थित हैं, ठीक उसी प्रकार अंश रूप से व्यक्ति के शरीर रूपी पिण्ड में भी उनकी स्थिति है। जैसे अंश तत्त्व का बोध होने पर अंशी का बोध स्वतः हो जाता है, ठीक उसी भांति शरीरस्थ देवताओं का बोध होने पर उनके कारण रूप मूल तत्त्वों का बोध भी स्वतः हो जाता है। एक बात यह समझ लेनी चाहिए कि जैसे व्यक्ति के शरीर में स्थित उपरोक्त सभी देवताओं के माध्यम से एक ही आत्मदेव की शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तथा उस आत्मदेव की पूजा वा तृप्ति के लिये ही इन समस्त देवताओं की क्रिया हो रही है, ठीक उसी प्रकार से समष्टिरूप में अवस्थित अनन्त ब्रह्माण्ड के माध्यम से एक ही परमात्मदेव की शक्ति का प्राकट्य होता है तथा सम्पूर्ण सृष्टिगत कार्य प्राकृतिक विधान से उसी की अर्चना के लिये हो रहे हैं। यही सृष्टि का यज्ञात्मक स्वरूप है जिसके विषय में आधिदैविक यज्ञ की व्याख्या करते हुए पहले भी समझाया जा चुका है। इन समस्त विवेचनाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय विविध देव पूजन पद्धति वैज्ञानिक तथा सर्वविध ग्राह्य है, अतः दिव्ययज्ञ की प्रक्रिया में देवपूजन द्वारा शक्ति संचय का संदेश है।

अब हमें यहाँ इस पर विचार करना है कि देवपूजन से शक्ति संचय किस प्रकार किया जाता है। पूजा का अर्थ होता है सद्भाव युक्त चिन्तन। मनोवैज्ञानिक आधार पर इस तथ्य को यूं समझा जा सकता है कि जिस अवस्था में व्यक्ति भावयुक्त हो किसी ध्येयबिन्दु का चिन्तन करता है, उस अवस्था में उसके अन्तः स्थल के झंकृत होने से भावानुसार सूक्ष्मतम परमाणुओं की तरंगें प्रवाहित होती हैं और उन तरंगों का वेग भाव की मंदता वा तीव्रता के अनुसार चिन्त्य पदार्थ तक पहुँच कर चिन्तक तथा चिन्त्य तत्त्व को एकाकार कर देता है। चिन्तक जिस भावना से चिन्त्य तत्त्व का चिन्तन करता है, उसी रूप से उसकी पूर्ति हो

जाती है अर्थात् चिन्त्य तत्त्व उसी स्वरूप में अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है। विश्व के व्यवहारिक क्षेत्र में घटित होने वाली समस्त घटनाओं का आधार केवल भावमय क्रियायें तथा उनकी प्रतिक्रियायें ही हैं। ये चिन्तनोद्भूत भावनायें इतनी प्रबल वा तीव्र होती हैं कि सुदूर देश में वा दृष्टि से परे स्थित तत्त्व को भी अपने वेग से प्रभावित कर देती हैं और उसकी प्रतिक्रिया का प्रवाह भी चिन्तक तक पहुँच कर उससे एक हो जाता है। भावनायें अच्छी हों या बुरी, उनका प्रभाव केवल भावुक हृदय के मंद व तीव्रवेग के आधार पर ही निर्भर है।

सारांशतः सद्भाव—युक्त चिन्तन में चिन्त्य तत्त्व का गुण, स्वभाव तथा शक्ति चिन्तक को स्वतः प्राप्त हो जाती है, किन्तु चिन्तक के रूप पूजन की प्रक्रिया में हृदयगत भाव जितना शुद्ध, सात्त्विक तथा सबल होगा, उतनी मात्रा में ही चिन्त्य के गुण, स्वभाव, शक्ति को चिन्तक प्राप्त कर सकेगा; इसीलिए पूजन रूप यज्ञ में भाव की ही प्रधानता है तथा सत्शास्त्रों में उसके ऊपर ही अधिक बल दिया गया है।

सभी व्यक्तियों की आवश्यकतायें भिन्न—२ होती हैं तथा उन की पूर्ति के पदार्थ और उनके आधार भी भिन्न—२ होते हैं। प्रत्येक पदार्थ के समष्टि आधार को ही देवता नाम से अभिहित किया गया है। तत् पदार्थ सम्बन्धी तत् विधि से उपासना वा पूजन कर मानव अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकता है, यही शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्ति सम्पादनार्थ दिव्य यज्ञ—विज्ञान की सुन्दर प्रक्रिया है। यह बात पूर्व में ही बता दी गई है कि वैदिक यज्ञ विज्ञान में विभिन्न पदार्थों को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार की सामग्रियों वा विधियों से विभिन्न देवताओं की पूजा की जाती है, अतः अभिलाषित पदार्थ की भिन्नता से देवता, पूजन सामग्री वा विधि में अन्तर आना स्वाभाविक

ही है।

कुछ लोग शंका करते हैं कि हिन्दू देव स्थानों में एक के स्थान पर अनेक मूर्तियाँ क्यों स्थापित की जाती हैं? ध्यान की दृष्टि से भी एक के स्थान पर अनेक मूर्तियों के होने से चित्त का टिकाव एक जगह न होकर बंट जाता है। बात यह बिल्कुल ठीक है, शंका भी उचित है। इस विषय में मेरी भी यही राय है कि देवालय में केवल एक ही मूर्ति होनी चाहिये; क्योंकि मूर्ति का उपयोग ध्यान के लिए है। इसी दृष्टि से पूर्वकाल के साधकों ने अपने अभीष्ट देव के अव्यक्त भाव को व्यक्त करने के लिए ही मूर्ति का रूप दिया था। विभिन्न शास्त्रों में वर्णित भावोत्पादक शब्दों के आधार पर ही भावमयी प्रतिमा का निर्माण हुआ है। मूर्ति पूजा प्रारंभिक काल में साधक के साधना की सुविधा के लिए ही की गई थी किन्तु बाद में जैसे–२ स्वाध्याय के अभाव में जड़ता के कारण विवेकहीन विश्वास का जन्म होता गया, उसी क्रम से यह एक ऐसी गलत दिशा ले लिया कि परिणाम में साधन को ही लोग साध्य मान बैठे। आज भी अधिकांशतः भावुक जनता किसी मन्दिर स्थित मूर्ति का दर्शन करके ही कल्याण भाजन होने की कल्पना से दर–२ धक्के खाती फिरती है; तथा उसके इस अंध विश्वास का लाभ उठाकर कुछ चतुर लोग अपनी रोज़ी–रोटी का श्रमरहित साधन बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की निरर्थक भावमय कहानियों को गढ़ कर धर्म ग्रन्थों के नाम से प्रचारित कर उन्हें इस गलत दिशा में प्रोत्साहित करते रहते हैं। यह धर्म के नाम पर बिना पूंजी का सदियों से चलने वाला व्यवसाय आज भी उसी प्रकार प्रचलित है; जिसके परिणाम ने भावुक जनता को मानसिक दासता की बेड़ी में जकड़ कर उसके बौद्धिक विकास को अवरूद्ध कर दिया है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि मैं तीर्थों तथा मन्दिरों की उपेक्षा करने का पाठ

पढ़ा रहा हूँ। मेरी राय यह है कि प्रत्येक प्रकार की धार्मिक मान्यताओं के पीछे कुछ मौलिक उद्देश्य छिपे हुए हैं, जिससे उसकी उपयोगिता भी है। प्रमाण रूप में जैसे चार धाम तथा सप्तपुरियों की तीर्थ यात्रा से यात्री को सम्पूर्ण भारत की परिक्रमा के साथ–२ वहाँ के विभिन्न प्रकार के रहन–सहन, खान–पान एवं बोली–भाषा तथा रीतिरिवाज़ के परिचय के साथ आधार रूप से सांस्कृतिक एकता के दर्शन भी होते हैं; जिससे वैविध्य में भी एकत्व की उपलब्धि होती है। देश के एक कोने में रहने वाला नागरिक इसी तीर्थ यात्रा की दिव्य भावना से अपने सभी देश बन्धुओं की अवस्था तथा व्यवस्था का परिचय प्राप्त कर लेता है। इन तीर्थों की प्रतिष्ठा में ही राष्ट्रीय एकता का सूत्र निहित है। आज भी पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण, पश्चिम से पूर्व तथा दक्षिण से उत्तर की यात्रा करते हुए हज़ारों हिन्दू दिव्य भावना से भावित हो भारत–दर्शन की उत्कण्ठा से अभिभूत दिखाई देते हैं। देश में जगह–२ पर तीर्थस्थान को देख भारत की धरती के प्रति बरबस दिव्यता की भावना जागृत हो जाती है। विभिन्न क्षेत्रों में स्थित द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों, शक्तिपीठों, पुरियों तथा पवित्र धामों के कारण वहाँ के कण–२ में सच्चिदानन्द की भावना से भावित हो भारतीय उसमें लोट–पोट कर स्वयं को कृतकृत्य मानता है तथा तत्सम्बंधित समस्त पुनीत ऐतिहासिक कथाओं के द्वारा भारत के गौरवमय अतीत की स्मृति स्वतः उभर आती है। आज भी भारत की एकता के कारणभूत तीर्थस्थलों तथा देव स्थानों की भाव सूत्र रूप में राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से परमोपयोगिता है; अतः उनको उचित श्रद्धा वा सम्मान का स्थान तो देना ही होगा। मैं तो जो भी कुछ श्रद्धालुओं की दृष्टि से विपरीत आलोचनामय विचारों को व्यक्त कर रहा हूँ उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय

स्तर पर जीवनोपयोगी साधनमय तत्त्वों को उतना ही स्थान देना चाहिए, जिससे वे साधन स्वयं साध्य रूप हो साधक पर हावी न हो सकें; क्योंकि "अञ्जन कौन आँख जो फूटे" अर्थात् ऐसा अञ्जन क्या हुआ जिससे आँख ही फूट जाये। सदैव इस तथ्य को याद रखना है कि सभी साधन जीवन के लिये हैं, जीवन उनके लिए नहीं क्योंकि जिस अवस्था में साधन साध्य का स्थान ग्रहण कर लेता है उस अवस्था में वह जीवन में प्रगति का नहीं बल्कि अवरोध का ही कारण बन जाता है।

पहले भी बताया जा चुका है कि साधकों के साधन की सुविधा के लिये ही अभीष्ट की प्रतिमा का प्रतिष्ठापन किया गया था। प्रारम्भिक अवस्था में साधक एकाएक सूक्ष्म तत्त्व में स्वयं के चित्त को स्थिर करने में समर्थ नहीं होता, अतः किसी स्थूल आधार की उसे आवश्यकता होती है। शब्द तथा तेज तत्त्व के चिन्तन में चित्त को टिकाने के लिए यौगिक विधान है किन्तु यदि उसमें भी एकाएक चित्त का टिकाव न हो सके तो उसके लिए अभीष्ट स्वरूप का चिन्तन बताया गया है–

यथाभिमतध्यानाद्वा। (यो० सू० १/३६)

यदि उपासक का वह इष्ट साकार रूप में स्वतः उसके समक्ष नहीं है तो "वह स्वभावनानुसार उस के स्वरूप की कल्पना कर उसके ध्यान में चित्त को टिकाने का प्रयत्न करे", यही प्रतिमा–पूजन की प्रक्रिया के प्रारम्भ का प्रयोजन है।

आचार्य तथा अभिमत स्वरूप की प्रतिमा को साध्य इष्ट का साकार रूप मानकर साधन में ध्यान की जो व्यवस्था बतलाई गई हैं, वह निःसन्देह साधक के लिए प्रारम्भिक अवस्था में परमोपयोगी है। किन्तु साधन के आडम्बर में पड़ कर साधक यदि साध्य को ही भूल जाता है वा साधन (मूर्ति) को ही साध्य मान पूजा की भिन्न–२ परिपाटियों में रमा रहता है तो जीवन में

सफलता के बदले निराशा के ही दर्शन होते हैं। अतः यह ध्यान रहे कि मूर्ति साधन है साध्य नहीं और केवल यही स्थान उसे मिलना चाहिए, इसी में उसकी तथा उसके पुजारियों के सन्मान की सार्थकता है।

उपरोक्त विवेचन में यज्ञ के देवपूजन सम्बन्धी विधान के साथ वर्तमान में प्रचलित विविध देवोपासना, तीर्थ तथा मूर्ति–पूजा पर विचार करके हम अब इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि ये सभी साधन वा पूजन पद्धतियां अपने में कुछ मौलिक विशेषतायें तथा विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। इन सब की व्यवस्था के मूल में भी वैज्ञानिक मौलिक आधार है अतः उनके तात्त्विक बोध से ही हमें उचित लाभ की उपलब्धि हो सकेगी।

ॐ

पँचदेवोपासना

वैदिक सनातन पद्धति की साधन प्रक्रिया में पँचदेव उपासना का भी बृहद् विधान है। यहाँ उसका भी रहस्य समझ लेना विशेष उपयोगी होगा। तत्त्वविज्ञान के वेत्ता यह जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने में शक्ति, गुण तथा स्वभाव से युक्त होता है और व्यवहारिक क्षेत्र में उस तत्त्व को समझने के लिए किसी रूप तथा नाम विशेष की भी स्वीकृति की जाती है। तदनुसार भारतीय मनीषियों ने उस परम तत्त्व की सत्ता को सहज में ही जनमानस तक पहुँचाने तथा उसके रहस्य का अनुभव कराने के लिए उसकी शक्ति, गुण तथा स्वभाव को गवेषणापूर्ण अनुभूति के आधार पर साकार रूप में अभिव्यक्त किया है तथा तत्त्वबोधार्थ साधन कि सुविधा के लिए उसके नाम–रूप का भी संकेत किया है।

हम देखते हैं कि वैदिक साहित्य में अधिकांशतः उस परम तत्त्व ब्रह्म को अग्नि तत्त्व से ही उपमित किया गया है। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा में ही उस परम आराध्य देव की अग्नि रूप में स्तुति करते हुये कहा गया है–

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजं होतारं रत्नधातमम्।

अर्थात् यज्ञ के अधिष्ठातृ ऋत्विज, पुरोहित, होता तथा रत्नधाता अग्निदेव की स्तुति करता हूँ। यजुर्वेद में भी प्रार्थना है–

"अग्ने नय सुपथा" हे अग्निदेव! मुझे सुपथ अर्थात् सुन्दर

मार्ग से ले चल। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उस परम तत्त्व की व्यापकता का अवबोधन कराते हुये कहा गया है :–

एको हँसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एव अग्निः सलिले सन्निविष्टः।

(श्वेता॰ ६/१५)

अर्थात् एक परम प्रकाश स्वरूप परम तत्त्व इस विश्व में उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त है जैसे जल में अग्नि। कहने का अभिप्राय जैसे जल की उत्पत्ति का कारण रूप अग्नि जल से विपरीत गुण, स्वभाव रखते हुये भी जल में व्याप्त रहता है ठीक उसी प्रकार से जगदुत्पत्ति का कारण रूप वह परमात्मा उसके विपरीत गुण, स्वभाव स्वरूप वाला होते हुये भी इस जगत् में सर्वत्र एक रस परिपूर्ण है। यहाँ भी उस परम तत्त्व को अग्नि से उपमित किया है। कठोपनिषद् में–

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

(कठ॰२/२–१०)

अर्थात् जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके समान रूप वाला ही हो रहा है वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुये भी नाना रूपों में उन्हीं के जैसे रूपों वाला हो रहा है तथा उनके बाहर भी स्थित है। इस प्रकार उपरोक्त मन्त्रों में अग्नि की उपमा देते हुये उस परम तत्त्व की व्यापकता का संकेत किया गया है। गीता में भी भगवान् ने स्वयं को अग्निवत् व्यापक बताया है यथा–

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणीनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

(गीता १५/१४)

अर्थात् प्राणियों के शरीर में वैश्वानर अग्नि के रूप में स्थित

होकर, (मैं ही) प्राण–अपान से संयुक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

गोस्वामी जी के शब्दों में "पावक जुग सम ब्रह्म विबेकू" तथा "प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी" आदि उक्तियों द्वारा उस परम तत्त्व का अग्निवत् वर्णन मिलता है।

अस्तु! अग्नि की उपमा देकर यह भाव व्यक्त किया गया है कि जैसे अग्नि तत्त्व में सत्ता, स्वभाव तथा गुण रूप में शक्ति, दाह तथा प्रकाश निहित है, ठीक उसी प्रकार उस परम तत्त्व में भी सत्तात्मक अनन्त शक्ति, स्वभावात्मक अनन्त प्रेम तथा प्रकाशात्मक अनन्त ज्ञान निहित है। सत्तात्मक सत्, ज्ञानात्मक चित्त तथा प्रेमात्मक वा रसात्मक आनन्द से ही उसे सच्चिदानन्द नाम से अभिहित किया गया है अर्थात् सच्चिदानन्द नाम उस अनन्त–सत्ता के शक्ति, स्वभाव तथा गुण का ही वाचक है। यथा अग्नि तत्त्व अव्यक्त रूप से सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी दिखाई नहीं देता, यत्न विशेष द्वारा ही उसको अभिव्यक्त किया जा सकता है तथा उसके कार्य विशेष द्वारा ही उसकी सत्ता की अनुभूति होती है, तथैव वह परमात्म सत्ता सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी अभिव्यक्त रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती एवं उसके कार्यरूप जड़–चेतनात्मक इस विराट् विश्व को देखकर ही उसकी अस्ति का बोध होता है। भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में–

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

(गीता ७/२५)

अर्थात् अपनी योगमाया (मूल प्रकृति) द्वारा समावृत होने से सभी के लिए मैं प्रत्यक्ष नहीं हूँ, किन्तु :–

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।

(गीता ७/२६)

अर्थात् जो मेरी शरण होकर जरा और मृत्यु से छूटने के लिये यत्न करते हैं, वे लोग ही उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सम्पूर्ण कर्म के रहस्य को जानते हैं। अभिप्राय यह है कि अग्निवत् व्याप्त उस अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप जीवनाधार को यत्नहीन पुरुष कभी भी नहीं जान पाता। स्वाध्याय तथा साधनरत हो श्रद्धायुक्त संयमित चित्त से ही साधकजन स्वानुभव द्वारा उसे समझने में सक्षम होते हैं।

अस्तु! अरणिमन्थन करने से सर्वप्रथम जिस प्रकार अग्नि तत्त्व के अवबोधक दाह का प्राकट्य होता है, ठीक उसी प्रकार सृष्टयोन्मुख, विक्षुब्ध प्रकृति के माध्यम से इस विराट् विश्व में उस अनन्त परमात्म सत्ता की सर्वप्रथम भावरूप में ही अभिव्यक्ति होती है। पश्चात् जैसे दाह की अभिवृद्धि होने पर ही प्रकाश (तेज) का प्राकट्य होता है उसी प्रकार शनै–२ भाव (प्रेम) वा श्रद्धा की अभिवृद्धि होने से प्राणी में ज्ञान (बोध) की जागृति होती है। यथा "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं" (गीता) अर्थात् श्रद्धायुक्त व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त करता है। साराँशतः शक्ति, दाह तथा प्रकाशमय अग्नि तत्त्व से उपमित उस परम देव चैतन्य देव में शक्ति, भाव (प्रेम) एवं ज्ञानमय अनन्त सत्ता विद्यमान है तथा सच्चिदानन्द शब्द उसी का अवबोधक है।

मानव स्वभावतः अपने अभिमत स्वरूप को साकार रूप में ही देखना चाहता है, अतः उपासना की दृष्टि से उस समष्टि ज्ञान (बोध) को शिव के स्वरूप में अभिव्यक्ति कर उनके चिन्तन द्वारा शक्ति, ज्ञान तथा प्रेम को प्राप्त करने के लिए साधन में प्रवत्त होता है। अथर्ववेदीय देव्युपनिषद् में देवताओं के "कासि त्वं महादेवीति", हे महादेवी! तुम कौन हो? प्रश्न करने पर उत्तर में उमा महामाया ने स्वस्वरूप का अवबोधन कराते हुए कहा "अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्कं जगत्" अर्थात् मैं ब्रह्मस्वरूपा

हूँ, मेरे से ही यह प्रकृति पुरुषात्मक (जड़चेतनात्मक) जगत् स्थित है। तात्पर्य यह है कि भारतीय उपासना पद्धति में जगदम्बिका दुर्गा उस परम देव की शक्ति का ही साकार रूप है या यूँ समझिये कि शक्ति का पुजारी उस परमात्म सत्ता की सदैव दुर्गा के रूप में ही आराधना करता आ रहा है। सृष्टि के प्रारंभ–काल में ही मधुकैटभ से भयभीत हो स्वरक्षार्थ प्रजापति ब्रह्मा तथा दुष्टदलनार्थ महा मानवरूप में अवतीर्ण हुये मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम से लेकर अनेक महापुरुषों के जीवन वृतान्त शक्ति सम्पादनार्थ उस महामाया की अराधना के उपाख्यानों से भारतीय पौराणिक साहित्य भरा हुआ है। देवी भागवत् तथा मार्कण्डेय पुराण आदि तो शक्ति उपासना के उपाख्यानों तथा साधन–विधियों से ही परिपूर्ण हैं। इतना ही नहीं इस युग के महापुरुषों में भी, जिनका हम आदर सहित नाम स्मरण करते हैं जैसे गुरु गोविन्दसिंह, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, अध्यात्म जगत के मनीषी भगवान् शंकराचार्य से लेकर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, योगी अरविन्द, स्वतंत्रता संग्राम के वीर सेनानी नेता सुभाषचन्द्र बोस आदि तथा प्रत्येक विजयाभिलाषी वीर शत्रुविनाशनार्थ शक्ति सम्पादन के लिये माँ दुर्गा की ही उपासना में रत रहे हैं।

मुख्यतः शक्ति के तीन भेद हैं–ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया। ज्ञान शक्ति को प्राप्त करने के लिए सरस्वती, इच्छा शक्ति की पूर्ति के लिये लक्ष्मी तथा क्रिया शक्ति को प्राप्त करने के लिए काली के रूप में उस एक ही ब्राह्मी शक्ति महामाया दुर्गा की आराधना होती है। यद्यपि विशेष रूप से दुर्गा की आराधना में नवदुर्गा–पूजन की प्रथा प्रचलित है एवं कुछ लोग अष्टायोगिनी, तथा षोडष्मातृका आदि भेदों के रूप में भी उस पराशक्ति को ही आराधते हैं तथापि मुख्यतः नवार्णमन्त्रान्तर्गत त्रिबीज की वाच्यस्वरूपा क्रमशः सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण की अधिष्ठात्री महासरस्वती,

महालक्ष्मी तथा महाकाली के माध्यम से ही उस पराशक्ति की उपासना का विशिष्ट विधान है। अस्तु! भारतीय साधन पद्धति में उस अनन्त परम देव की सार्वभौम शक्ति के साकार रूप में ही माँ दुर्गा की प्रतिष्ठा है।

उस अनन्त अव्यक्त शक्ति के पश्चात् भाव (प्रेम) की अभिव्यक्ति होती है। उपासना की सनातन प्रक्रिया से प्रेम के साकार रूप में ही विष्णु की आराधना का विधान है। संसार का समस्त व्यवहार प्रेम भाव पर ही आधारित है। केवल मानव में ही नहीं पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि में भी प्रेम देव के दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं बल्कि हिंसक जन्तुओं को भी प्रेम युक्त हो अपनी प्रकृति के विपरीत कार्य करते हुए देखा जाता है। प्रेम में जब जड़ पदार्थ को भी पिघला देने की क्षमता है, फिर चेतन की तो बात ही क्या! प्रेम विश्वव्यापी सत्य है, उसमें देशकाल तथा परिस्थिति की सीमा नहीं, वही जगत तथा समष्टि जीवों का धाता वा पौषक है। अतः उस प्रेम स्वरूप परमात्मा की भावमयी व्यापक सत्ता को ही विष्णु कहा जाता है तथा वही करुणामय स्वभाव से प्रेरित हो विभिन्न रूप धारण कर विपुल ब्रह्माण्ड का संरक्षण तथा पालन करता है। श्री राम कृष्ण, बुद्ध आदि जो भी संतजन हिताय शक्तियां इस धराधाम पर अवतरित हुई, वे सभी उस अनन्त व्यापक तत्त्व विष्णु के ही भावमय रूप की अभिव्यक्ति थी।

प्रेम से ही पालन का कार्य होता है। अतः प्रेमाधिदेव विष्णु ही जगत के पालनकर्त्ता कहे जाते हैं। सारांशतः जिस अनन्त–विध इस रस रूप भाव तथा स्नेह की स्निग्धता से अभिसिंचित हो सृष्टिगत समस्त जीवों के भरण, पोषण वा सुरक्षा की क्रिया स्फुरित सुव्यवस्था के साथ समर्पित होती है वही भावमयी मूर्ति विष्णु के रूप में आराध्य है।

शक्ति एवं स्वभाव के पश्चात् अब हमें उस अनन्त के गुणात्मक ज्ञान रूप में होने वाली तृतीय अभिव्यक्ति के साकार रूप शिव तत्त्व पर विचार करना है। ज्ञान ही जीवन में कल्याण सम्पादन का मुख्य आधार है। इसीलिए उसे शिवस्वरूप कहा जाता है–'शिवः कल्याणकर्त्ता च'।

सृष्टि का सारा वैभिन्य अविद्या में ही निहित है। भिन्नता की भावना ही समाज में व्यक्तिवाद की पोषिका है और उसी के द्वारा जीवन में मोह तथा अज्ञान की अभिवृद्धि होती है। मोह के आधिपत्य से ही मैं–मोरमय नानात्व की भावना का उदय होता है। नानात्व का भाव ही भय तथा चिन्ता का कारण है। इसी से अनेक प्रकार के वेदनामय दुःखों का जन्म होता है। अज्ञानजन्य मोह तथा नानात्व की स्वीकृति ही जन्ममरण रूप संसार चक्र का कारण है, 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला' तथा यही अनेक प्रकार के शूलों का जन्मदाता भी है।

वैदिक विचारधारा में इस विषय पर विशेष ज़ोर दिया गया है कि कल्याणभिलाषी मानव को भेदात्मिका दृष्टि का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि भेद वा नानात्त्व की भावना ही अविद्या का प्रतीक है, अतः विवेक के प्रकाश में द्वैत का निराकरण होने पर ही समस्त प्रपञ्चोपशमन कर आत्मनिष्ठा प्राप्त हो सकती है जो कि कल्याण का स्वरूप है।

निःश्रेयस पद को प्राप्त करने की अभिलाषा से युक्त नचिकेता को जन्म मृत्युरूप आवर्त से मुक्त होने के लिए उपदेश देते हुए तत्त्ववेत्ता यम ऋषि का कथन है–

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

(कठ० २/१–१०)

अर्थात् जो परम तत्त्व परमात्मसत्ता, सर्वान्तर्यामी सर्वरूप, सबके

परम कारण (ब्रह्म) यहाँ (इस पृथिवी लोक में) है वही वहाँ (परलोक अर्थात् अनन्त लोकों में) भी है। जो सत् तत्त्व वहाँ है, वह यहाँ भी है। तत्त्वतः एक ही परम चैतन्य यहाँ, वहाँ, अनन्त रूपों में विद्यमान है। अतः जो मोहवश हो इस जगत् में नाना रूपों में अभिव्यक्त हुये उस एक अनन्त ब्रह्म तत्त्व में नानात्व की दृष्टि रखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है अर्थात् उसे पुनः–२ मृत्यु के अधीन होना पड़ता है। कल्याणाभिलाषी मानव के लिए तत्त्वद्रष्टा ऋषि का उपदेश है कि जो चेतन यहाँ शरीर में स्थित है वही वहाँ अन्य शरीरों में भी अवस्थित है तथा जो परम तत्त्व समष्टि रूप में अभिव्यक्त है वही यहाँ इस व्यष्टि रूप का भी आधार है। वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है जो यहाँ और वहाँ में अर्थात् समष्टि तथा व्यष्टि में नानात्व की कल्पना वा भेददृष्टि रखता है। पुनश्च अगले मन्त्र में–

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति च इह नानेव पश्यति।।

(कठ॰ २/१–११)

अर्थात् विशुद्ध मन से ही यह अद्वैत परमात्म तत्त्व प्राप्त करने वा अनुभव करने योग्य है क्योंकि इस जगत् में उस एक अनन्त अद्वैत ब्रह्म तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अतः इस जगत् में नानात्व वा भेद दृष्टि रखने वाला मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है अर्थात् बार–बार जन्मता और मरता रहता है। कहने का अभिप्राय कि निःश्रेयस् के अभिलाषी के लिए समस्त द्वैतात्मक सृष्ठ प्रपञ्च संहरण होना अत्यावश्यक है, क्योंकि 'सपनेहुं नहिं सुख द्वैत दर्शन बात कोटिक को कहे'।

अशान्ति के कारण रूप इस द्वन्द्वात्मक दुःख के जन्मदात्ता

नानात्व के विनाश वा संहरण में बोध ही एक मात्र साधन है क्योंकि दुःख वा अशान्ति के आधार रूप मोह तथा शोक का

विनाश बोध वा ज्ञान में ही संभव है। "तत्र को मोह क शोकः एकत्वमनुपश्यतः" अर्थात् वहाँ मोह किसे, शोक कैसा, जहाँ एकात्म तत्त्व की ही सतत अनुभूति हो रही हो। कहने का अभिप्राय जहाँ विशुद्ध आत्मविज्ञान का उदय होता है वहाँ नानात्व नहीं रह जाता अर्थात् सर्वथा समाप्त हो जाता है। नानात्व में ही मोह शोकमय विषम सृष्टि का प्रवाह है। तत्त्वविज्ञान के अभाव में उसका निराकरण कर समता की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। "बिनु बिग्यान कि समता आवइ"।

तत्त्वदर्शी की दृष्टि में सृष्टि नहीं रह जाती वहाँ केवल "वासुदेवः सर्वमिति" वा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् वासुदेव ही सर्वरूप में विराजित है वा निश्चय ही इस समष्टि रूप में एक ब्रह्म ही प्रतिष्ठित है, ऐसा दर्शन होता है। अस्तु! ज्ञान ही भेद तथा भिन्नता वा नानात्व का संहारक है तथा नानात्व के संहरण में ही जीव का कल्याण निहित है। इसीलिए उस अनन्त सत्ता के ज्ञानमय साकार विग्रह भगवान् शिव को सहांरकर्त्ता एवं कल्याणस्वरूप कहा गया है।

कुछ लोग जो इस रहस्य को नहीं जानते वे शिव के इस विपरीतभावाश्रयी स्वरूप को सुनकर भ्रमित हो जाते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में कल्याण का अर्थ जीवन तथा संहार का अर्थ मृत्यु होती है। "क्योंकि संहार रूप मृत्यु तथा जीवन रूप कल्याण, ये दोनों शब्द परस्पर अपने में बिल्कुल विपरीत अर्थ रखते हैं" ऐसा समझ कर शिव की कल्याणमयी मूर्ति में संहारक शक्ति को स्वीकार करने से विरोधीभाव की आशंका होती है, जो कि तत्त्वबोध रहित व्यक्ति के लिए स्वाभाविक ही है किन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई है कि वैभिन्य वा नानात्व भावोत्पादिका सृष्टि के संहार वा सम्वरण में ही कल्याण की साधना पूर्ण होती है। अतः उस अनन्त के ज्ञानस्वरूप शिव

का संहारकर्त्ता एवं कल्याणमय होना साभिप्रायी तथा स्वयं में सार्थक है।

यहाँ तक उस अनन्त देव की पञ्चविध आराधना के अभिव्यक्त रूप शक्तिमय दुर्गा, प्रेममय विष्णु तथा ज्ञानमय शिव तत्त्व की संक्षिप्त विश्लेषणात्मक विवेचना की गई। अब आगे हमें उसके रूप वा नाम के प्रतीक सूर्य तथा गणेश के तात्त्विक स्वरूप पर भी विचार करना है। जिस प्रकार दुर्गा, विष्णु एवं शिव परमात्म तत्त्व के शक्ति, प्रेम तथा ज्ञान के प्रतीक हैं, ठीक उसी प्रकार सूर्य परमात्मा के परम तेजोमय स्वरूप का प्रतीक कहा गया है।

यह बात सर्वविदित है कि इस विश्व की समष्टि रूप तन्मात्रा का आधार तेज तत्त्व है। प्रकृति की सर्गावस्था में महतत्त्व, अहंकार, मन, आकाश तथा वायु, ये सभी पदार्थ अमूर्त ही रहते हैं, क्योंकि इनका कोई ऐसा आकार नहीं है जिसको कि इन आँखों से देखा जा सके। इनकी स्थिति का बोध केवल अनुभवजन्य ज्ञान वा इनके कार्यों से ही होता है। सृष्टि क्रम में सर्वप्रथम मूर्त रूप से तेज तन्मात्रा की ही अभिव्यक्ति होती है।

सृष्टि सर्ग में आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक भेद से सम्पूर्ण जगत् की रचना है। व्यष्टि तथा समष्टि रूप में कार्य—कारण सम्बन्ध से ही जीवन की समस्त क्रियायें हो रही हैं। दार्शनिक भाषा में व्यष्टि रूप में अभिव्यक्त कार्य को साधनो—पयोगी करण (इन्द्रियां) वा तद्ग्राह्य विषय तथा समष्टि रूप में स्थित उसके कारण स्वरूप को उस करण का देवता कहा जाता है। कारण रूप देवता के प्रकाश में ही कार्य रूप में स्थित समस्त करणों की क्रियाएँ सम्पन्न हो रही हैं। कारण रूप देवता की अनुपस्थिति में कोई भी करण स्वसम्बन्धित क्रिया को सम्पादित करने में सक्षम नहीं होता। उदाहरणतया कार्यरूप में

अभिव्यक्त नेत्र इन्द्रिय का कारण रूप देवता तेज तत्त्व है। नेत्र तथा उसका ग्राह्य विषय रूप दोनों के होते हुये भी तेज (प्रकाश) की अनुपस्थिति होने पर नेत्र द्वारा रूप को देखने की क्रिया नहीं हो सकती।

जिस प्रकार तेज तत्त्व से ही नेत्र तथा रूप दोनों की स्थिति है, ठीक उसी तरह सृष्टि के समस्त ग्राह्य विषय एवं उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियां तथा उन दोनों के आधार कारण रूप उनके देवता स्थित हैं। इन्द्रियां अपने–अपने देवताओं की उपस्थिति में ही अपने–अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं अन्यथा नहीं, ऐसा सृष्टि का क्रम है। जिस प्रकार सृष्टि के मनुष्य से लेकर कीट पतंग आदि जीवों के शरीर में स्थित नेत्रेन्द्रियां तथा उनके विषय रूप तन्मात्रा का आधार एक ही तेज तत्त्व है, ठीक उसी प्रकार भिन्न–भिन्न शरीरों में स्थित भिन्न–भिन्न इन्द्रियां तथा उनके विषयों के आधार रूप में उनके समष्टिरूप देवताओं की भी स्थिति है। विभिन्न रूपों में स्थित इन देवताओं के तात्त्विक स्वरूप का विवेचन पूर्व में (३३) तैंतीस कोटि देवताओं की व्याख्या में किया जा चुका है।

उपरोक्त विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भिन्न–भिन्न इन्द्रियों तथा उनके आधारभूत देवताओं में सूर्य समष्टि नेत्र तथा रूप का देवता है। गीतानाथ के शब्दों में–

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।

(गीता १३/१३)

अर्थात् जिस प्रकार एक ही सूर्य समष्टि नेत्र को प्रकाशित करता है। यहाँ लोक शब्द का अभिप्राय नेत्र से है जगत् से नहीं 'अवलोकयति इति लोकः', अर्थात् जो दिखता है वह लोक है क्योंकि विश्व में जो भी कुछ दृश्य हमें दिखाई देता है, उसमें

केवल सूर्य तथा तेज तत्त्व के विभिन्न अभिव्यक्त रूप एवं

तदंशभूत हमारे नेत्र ही हेतु होते हैं।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः।

(कठ० २/२–११)

अर्थात् जैसे सूर्य ही समस्त विश्व का नेत्र है।

यह बात पहले ही हम बता आये हैं कि प्रत्येक देवता के माध्यम से उसी एक अनन्त देव की शक्ति का प्राकट्य हो रहा है, अतः समष्टि रूप के आधार तेज तत्त्व की अभिव्यक्ति के माध्यम सूर्य को उस परमात्मा के रूप का प्रतीक मान उसकी आराधना का विधान किया गया है। सारांशतः पञ्चदेवान्तर्गत सूर्य उस परमात्मा के रूप का प्रतीक है तथा शक्ति, प्रेम, बोध युक्त उस अनन्त की पूजा वा चिन्तन में समष्टि रूप तन्मात्रा के आधार भगवान् भास्कर के ध्यान का विधान है।

किसी भी तत्त्व के गुण, स्वभाव तथा शक्ति का बोध प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार उसके स्वरूप को स्वीकार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार वह उससे भी अधिक महत्वशाली तत्त्ववाचक नाम की आवश्यकता होती है, क्योंकि नाम ही नामी का अवबोधक है।

दार्शनिक भाषा में नामों के दो भेद बताये गये हैं, एक तो वे जो कि नामी के गुण, स्वभाव तथा स्वरूप के अवबोधक होते हैं वा जिनके आधार पर नामी की तात्त्विक विवेचना वा निरुक्ति की जाती है, जैसे अग्नि, वायु, पृथिवी, धरा, सूर्य नारायण, राम, कृष्ण आदि। इस प्रकार के सभी नाम धातुज तथा स्वयं में ही एक विशिष्ट अर्थ रखते हैं। दूसरे प्रकार के वे नाम हैं जो कि तत्तत्पदार्थों के गुण–स्वभाव से सम्बन्धित न होते हुए भी केवल उपयोग के लिए व्यवहार में रूढ़ हो जाते हैं। अधिकांशतः कृत्रिम वस्तुओं के नाम इसी प्रकार के होते हैं, फिर भी संज्ञारूप में प्रयुक्त होने वाले सभी शब्द स्वयं में कुछ

अभिप्राय तथा हेतु तो रखते ही हैं।

अस्तु! पँचदेव उपासना में जिस प्रकार से शक्ति, प्रेम, ज्ञान तथा रूप के प्रतिनिधि दुर्गा, विष्णु, शिव तथा सूर्य को स्वीकार किया गया है, ठीक उसी प्रकार गणपति का स्वरूप उस परमदेव की सत्ता के वाचक नाम ओंकार का प्रतीक है। वैदिक साहित्य से लेकर गीता तथा दर्शनशास्त्रादि सभी आस्तिक ग्रन्थों में उस परम तत्त्व परमात्म सत्ता का वाचक प्रणव (ॐ) ही बताया गया है तथा ओंकार ही सृष्टि के आदि आधार नाद ब्रह्म के रूप में वर्णित है। जिसके लिए माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है :—

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति
सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।।

(माण्डूक्य०—१)

अर्थात् 'ॐ' इस प्रकार यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है। यह सम्पूर्ण जगत् उसका उपव्याख्यान अर्थात् उसी की निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। भूत (जो हो चुका है) भवत् (वर्तमान) भविष्यत् (जो होने वाला है) यह सब कुछ ओंकार ही है तथा जो त्रिकालातीत (तीनों कालों से परे) दूसरा कोई तत्त्व अर्थात् परब्रह्म परमात्मा है, वह भी ओंकार ही है। उसी उपनिषद् के अगले मन्त्रों में जाग्रत—स्वप्न—सुषुप्त्याभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ के रूप में भी अकार, उकार, मकार की ही विस्तृत व्याख्या की गई है तथा ओंकारगत अमात्र अनुस्वारयुक्त नाद को—

अमात्रचतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार
आत्मैव संविशत्यात्मनाऽत्मानं य एवं य एवं वेद।।

(माण्डूक्य०—१२)

अर्थात् "इसी प्रकार मात्रा रहित ओंकार प्रणव ही

व्यवहार में न आने वाले प्रपञ्च से परे कल्याणमय, अद्वितीय पूर्ण

ब्रह्म का चौथा पाद है। वह आत्मा अवश्य ही आत्मा के द्वारा परात्पर ब्रह्म परमात्मा में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है, जो इस प्रकार जानता है"। अन्योपनिषदों में भी उस परम तत्त्व को जानने के लिए ओंकार को ही एक मात्र साधन बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में :–

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति
तस्योपव्याख्यानम्।।

(छान्दोग्य० १/१)

अर्थात् ओंकार रूप इस अक्षर की उद्गीथ शब्द वाच्य परमात्मा के रूप में उपासना करे। क्योंकि यज्ञ में उद्गाता 'ॐ' इस अक्षर का ही सर्वप्रथम उच्च स्वर से गान करता है। उस ओंकार की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। आगे सम्पूर्ण विश्व के सार रूप में उस ओंकार की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि–

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो
रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच
ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः।

(छान्दोग्य–१/२)

अर्थात् चराचर जीवों का रस (आधार) पृथिवी है। पृथिवी का आधार जल है। जल का रस (आधार) औषधियाँ हैं। औषधियाँ का रस उनसे पोषण पाने वाला मनुष्य शरीर है। मनुष्य का रस अर्थात प्रधान अंग वाणी है, वाणी का रस सार ऋचा है। ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ ओंकार है क्योंकि पाँचवें मन्त्र में कहा गया है कि–

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः।

अर्थात् वाणी ही ऋचा है, प्राण साम है, ॐ यह अक्षर ही उद्गीथ है। कहने का अभिप्राय उद्गीथ वा ओंकार के माध्यम से

ही इस उपनिषद् में परम तत्त्व की आराधना का विधान बताया गया है। कठोपनिषद् में उस परम तत्त्व के सम्बन्ध में नचिकेता के प्रार्थनायुक्त प्रश्न करने पर यम ऋषि ने बताया कि–

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

(कठ० १/२–१५)

अर्थात् सम्पूर्ण वेद जिस परम पद का बारम्बार प्रतिपादन करते हैं और सम्पूर्ण तप जिस पद का लक्ष्य कराते हैं अर्थात् वे जिसके साधन हैं, जिनको चाहने वाले साधकगण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वा ब्रह्मभाव में विचरण करते हैं, वह पद मैं तुम्हें संक्षेप में ही बतलाता हूँ। वह है ॐ (ओंकार)। यह एक अक्षर पुनः आगे–

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।

(कठ १/२–१६)

अर्थात् यह अक्षर ही विराटं विश्व रूप में उपस्थित कार्य ब्रह्म है तथा यह अक्षर ही कारण रूप में अवस्थित परब्रह्म है। इसी अक्षर को जानकर जो चाहता है वह उसको पा लेता है। इतना ही नहीं बल्कि उस परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठतम साधन के रूप में इस अक्षर की महिमा का वर्णन करते हुए आगे कहा :–

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।

(कठ १/२–१७)

अर्थात् यही अत्युत्तम आलम्बन है, यही सबका परम आश्रय है। इस आलम्बन रूप ओंकार के अर्थ को भलीभांति जानकर साधक ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है। कहने का अभिप्राय यही

ओंकार को ही कार्य–कारण ब्रह्म के वाचक रूप में साधक के लिये चिन्तन का परम आश्रय बताया है। मुण्डक में भी–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्षयमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

(मुण्डक॰ २/२–४)

अर्थात् "यहाँ ओंकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। वह प्रमाद रहित मनुष्य द्वारा ही बींधा जाने योग्य है, अतः उसे बाण की भान्ति बेंध कर अथवा आत्मा (चित्त) को उससे युक्त कर (उस लक्ष में) तन्मय हो जाना चाहिये"। इसी प्रकार लगभग समस्त वैदिक साहित्य में साधक के लिये साधनाक्रम के रूप में परमात्म तत्त्व का वाचक प्रणव ओंकार को ही बताया गया है या यों कहिये कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य ओंकार की महिमा से भरा हुआ है।

केवल उपनिषदों में ही नहीं गीतादि दार्शनिक ग्रन्थों में भी उस परम तत्त्व के वाचक रूप में ओंकार को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। नाम नामी का अभेद रूप से वर्णन करते हुए भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।

(गीता ८/१३)

अर्थात् जो पुरुष "ॐ" ऐसे इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मेरे को चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। सत्रहवें अध्याय में भी इसी प्रकार–

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणस्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।

(गीता १७/२३)

अर्थात् ॐ, तत्, सत् ऐसे यह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का तीन प्रकार का नाम है। उसी से सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं। योग दर्शन में महर्षि पतञ्जलि का कथन है–

तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थभावनम्।।
(यो० सू० १/२७,२८)

अर्थात् उस परमेश्वर का वाचक प्रणव है तथा उसका जप करते हुये उसके अर्थरूप परम तत्त्व परमात्मा का चिन्तन 'नू' स्तुत्यर्थक धातु से 'प्र' उपसर्ग लगा कर प्रणव शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अभिप्राय है "प्रकृष्टरूपेण नवति स्तवति इति प्रणवः" अर्थात् जिससे प्रकृष्ट रूप में उस परम तत्त्व की स्तुति वा उसकी महिमा का अवबोधन हो, वह प्रणव है। अतः व्याकरण की दृष्टि से भी अक्षर ब्रह्म रूप प्रणव स्तुत्यर्थक होने से उस परम तत्त्व का अवबोधक नाम है।

उपरोक्त विवेचन में परम तत्त्व वाचक प्रणव की ही विशेष महत्ता बतलाई गई है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि परमात्मा के अन्य सभी नाम उसकी महिमा के अवबोधक नहीं। ईश्वर सम्बन्धी प्रत्येक नाम अपने में एक विशिष्ट भाव रखता है तथा तदनुसार उस अनन्त की विशिष्ट महिमा का अवबोधन कराता है। जैसे सर्वत्र रमण करने से राम वा "रमन्ते योगिनो यस्मिन् सः रामः' अर्थात् योगीजन जिसमें रमण करते हैं, वह राम है। 'कर्षयति सः कृष्णः' समष्टि को स्वयं की ओर जो आकर्षित करता है, वह कृष्ण है। कल्याणकर्त्ता होने से शिव, व्यापक होने से विष्णु, सृष्टि का मूल तत्त्व नार (अपस्तत्त्व) ही उसका निवास स्थान होने के नाते नारायण तथा समष्टि रूप में सृष्टि को विस्तृत करने से उसे (बृंहति इति ब्रह्म) ब्रह्म कहते हैं।

अस्तु! पँचदेव उपासना में उस परम सत्ता के शक्ति, स्वभाव, गुण तथा स्वरूप, इन सबसे पहले उसके नाम का प्रमुख स्थान होने से ही दुर्गा, विष्णु, शिव तथा सूर्य से प्रथम ओंकार के प्रतीक गणेश का पूजन किया जाता है।

भारतीय विचारधारा में प्रत्येक अभिलर्षित अव्यक्त तत्त्व को साकार रूप में अभिव्यक्त कर उसके पूजन की प्रवृत्ति सी पाई जाती है। तदनुसार ही उस अव्यक्त परम तत्त्व के वाचक अक्षर ब्रह्म ओंकार प्रणव को भी मूर्त रूप देकर उसकी पूजा की पद्धति प्रचलित हो गई तथा बाद के पौराणिक काल में रहस्यात्मक रूप से उसके साथ ईश्वर के नाम की महिमा से सम्बन्धित कई प्रकार की छोटी–बड़ी कहानियों की रचना की गई। अस्तु! गणपति उस परम सत्ता के अवबोधक नाम ओंकार के ही प्रतीक हैं।

"गणानां जीवानां ईशः गणेशः" अर्थात् समस्त गणों (जीवों) के ईश (नियन्ता) होने से ही उस परम तत्त्व परमात्मा को गणेश कहा जाता है। नाम नामी का अभिन्न सम्बन्ध होने से तत्तत्त्ववाचक ओंकार के मूर्त रूप गणेश को भी पञ्चदेवोपासना में प्रथम पूज्य माना गया है।

पाठकों को मूलतः सदैव यह ध्यान रखना चाहिये कि उपरोक्त विवेचन में भारतीय सनातन साधन पद्धति के अनुसार गणेश, सूर्य, शिव, विष्णु, दुर्गा की आराधना के रूप में क्रमशः उस परमात्म सत्ता के नाम, रूप, गुण, स्वभाव, शक्ति की ही उपासना होती है। इस प्रकार की वैदिक पञ्चदेवोपासना की पद्धति केवल भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में, जहाँ भी कहीं प्राचीन काल के सुशिक्षित तथा सभ्य मानव समाज के चिन्ह उपलब्ध होते हैं, प्रचलित थी। वर्तमान के पुरातत्व विभाग द्वारा प्राचीनतम अवशेषों के अन्वेषण से उपलब्ध हुए

मानव जीवन के सांस्कृतिक प्रतीकों द्वारा इस विषय में विशेष परिचय प्राप्त होता है। अतः प्रत्येक मानव को योग्यता, सामर्थ्य तथा रुचि के अनुसार अभिमत रूप में उस परम देव की आराधना कर शक्ति का सम्पादन करना चाहिये क्योंकि शक्ति ही सफलता का आधार है।

अस्तु! जीवन में सर्वांगीण विकास कर उसे अपने तथा समाज के हित में परमोपयोगी बनाने के लिए यज्ञमय जीवन–प्रक्रिया के प्रमुख अंग देवपूजन द्वारा ही सर्वविध शक्ति का सम्पादन सम्भव है।

साराँशतः देवपूजन सम्बन्धी विकल्पों के सामञ्जस्य से यह बात स्पष्ट हो गई है कि याज्ञिक जीवन प्रक्रिया ही मानव की सर्वतोमुखी सफलता का आधार है। यज्ञ प्रक्रिया में सर्वप्रथम स्थान देवपूजन का है, उसी के द्वारा मानव सर्वविधशक्ति का सम्पादन कर सकता है। वैदिक वैज्ञानिक साधन पद्धति में विभिन्न देवताओं की उपासना के द्वारा विभिन्न प्रकार की शक्ति के सम्पादन का विधान किया गया है। तैंतीस (३३) कोटि अथवा तैंतीस प्रकार के देवता जो कि व्यष्टि एवं समष्टि जीवन व्यापार के आधार हैं, उन समस्त देवताओं के माध्यम से एक ही परम देव की शक्ति की अभिव्यक्ति हो रही है, अतः भिन्न–भिन्न प्रकार के विधि–विधानों से तत्तत्क्रमानुसार उनकी उपासना कर व्यक्ति स्वयं की महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए अधिक सक्षम हो सकता है। इस प्रकार यहाँ इस प्रकरण में यज्ञार्थ सम्बन्धी देवपूजन पर संक्षेपतः विचार किया गया।

अब आगे आध्यात्मिक यज्ञमय जीवन की प्रक्रिया में देवपूजन द्वारा शक्ति सम्पादन कर संगतिकरण के साथ समष्टि की सेवा में उसका दान अथवा समर्पण करना ही विराट रूप में अभिव्यक्त यज्ञ पुरुष की सेवा है और उसी में जीवन की

सार्थकता निहित है। अस्तु देवपूजन की व्याख्या के पश्चात् अब हम क्रमशः यज्ञ सम्बन्धित संगतिकरण तथा दान पर भी संक्षेपतः विचार करेंगे।

ॐ

यज् संगतिकरणे

आध्यात्मिक जीवन प्रक्रिया के आधार रूप यज्ञ विज्ञान के सम्बन्ध में 'देवपूजन' पर विचार किया जा चुका है। यज्ञ का दूसरा पहलू संगतिकरण है। संगतिकरण के अभाव में भिन्न–भिन्न पदार्थों में स्थित शक्ति का समुचित रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि सृष्टि का समस्त व्यापार संगतिकरण पर ही आधारित है। उदाहरणतया सूर्य की किरणों के ताप तथा जलीय परमाणुओं के संगतिकरण से ही बादल बन कर वृष्टि होती है। वृष्टि द्वारा उपलब्ध जल मिट्टी के साथ बीज का संगतिकरण होने पर ही अंकुर, वृक्ष तथा फूल–फल की उपलब्धि होती है। मिट्टी, काष्ठ, पाषाण तथा अन्य प्रकार के अनेक उपकरणों का संगतिकरण होने पर ही विविध रूप में भवन का निर्माण होता है। विभिन्न प्रकार के तन्तुओं का संगतिकरण करके ही नाना प्रकार के वस्त्रों की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार सृष्टि में जीवनोपयोगी जिस किसी भी वस्तु का निर्माण किया जाता है, उसके लिए विभिन्न प्रकार के पदार्थों का संगतिकरण ही आधार होता है। इतना ही नहीं बल्कि भोजन सामग्री के समस्त साधन होते हुए भी उसके संगतिकरण की कला को न जानने से व्यक्ति भूखा ही रह जाता है। यज्ञ के प्रथम रूप देवपूजन की प्रक्रिया में भी विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के संगतिकरण की आवश्यकता होती है। उसके अभाव में हवन, पूजन आदि किसी भी प्रकार की क्रिया सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं की जा सकती।

संगतिकरण का शाब्दिक अर्थ क्या है, इसको समझ लेने से ही हमें उसके समुचित अभिप्राय का बोध हो सकेगा। गम् (गतौ) धातु से सम् उपसर्ग के साथ क्तिन् प्रत्यय लगाकर 'संगति' शब्द एवं डुकृञ् (करणे) के साथ ल्युट् प्रत्यय से 'करण' शब्द निष्पन्न होता है। इन दोनों के समस्त पद 'संगतिकरण' का अर्थ होता है 'सम्यक्प्रकारेण' अथवा समुचित रूप से गठन करना, गमन करना वा प्राप्त करना; जिसका अभिप्राय है प्राप्त हुए शक्ति, सामर्थ्य तथा योग्यता को समुचित रूप से गठित कर जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए गमन करना वा प्रवृत्त होना अथवा सुसंगठित शक्ति से उचित साधन में प्रवृत्त हो साध्य को प्राप्त करना। इस प्रकार यज्ञार्थक इस 'संगति करण' शब्द में ही जीवन में जीने की कला का पूर्ण निर्देश प्राप्त हो जाता है। यदि हम दिव्य विधान द्वारा उपलब्ध साधनों का समुचित सामंजस्य करके निजोद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रवृत हों तो अवश्य सफलता को वरण कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। यही यज्ञमय जीवन का सुन्दर विधान है।

गहराई से विचार करके देखा जाये तो समस्त सृष्टि क्रम का संचालन ही इस दिव्य याज्ञिक विधान संगतिकरण से हो रहा है। प्रकृति के त्रिविध गुण सत, रज, तम जिसको स्थूल मूल तत्त्व के रूप में तेज, अप, अन्न, दूसरी भाषा में gases, liquid & solid कहा जाता है, उसके गुणित अर्थात् संगतिकरण (संघात) होने पर ही अनन्त नाम–रूपात्मक इस विराट् विश्व की अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं बल्कि सृष्टि की प्रत्येक रचना वा अवस्था वा व्यवस्था संगतिकरण के ऊपर ही आधारित है।

यज्ञ के इस संगतिकरण रूप की महिमा का संकेत करते हुए ही तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है —

यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः।

अर्थात् यज्ञ ही इस भुवन रूपी विराट् शरीर की नाभि वा आधार है। जैसे नाभि प्रदेश में विविध प्रकार के खाये हुए पदार्थों का रासायनिक परिवर्तन होकर शरीर के अंगों की वृद्धि वा पोषण का कार्य सम्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार समस्त दिव्य विधान में हो रहे इस संगतिकरण रूप यन्त्र के द्वारा ही विभिन्न प्रकार के परमाणुओं का रासायनिक परिवर्तन होकर इस विराट विश्व शरीर की भी वृद्धि तथा पुष्टि हो रही है। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है–

यज्ञोहि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति।

अर्थात् यज्ञ ही समस्त प्राणियों का पालन करता है।

जिस प्रकार जीवन में देव पूजन रूप यज्ञ द्वारा सर्वविध शक्ति सम्पादन कर समस्त अभावों से मुक्त हो पूर्णत्व प्राप्त करने की सीख दी गई है, उसी प्रकार यज्ञ के दूसरे अर्थ संगतिकरण में विभिन्न शक्तियों का समन्वय कर आवश्यकतानुसार इन्हें उपयोग में लाने का संदेश दिया गया है क्योंकि प्राकृतिक विधान से सृष्टि के समस्त पदार्थ जीवन के सर्वतोमुखी विकास में सहायता प्रदान करने के लिए ही उत्पन्न किए गये हैं। योग दर्शन में समस्त प्राकृतिक दृश्य पदार्थों की उत्पत्ति का प्रयोजन बताते हुए पतञ्जलि ने कहा है –

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

(यो०सू० २/१८)

अर्थात् प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील तेज, अप, अन्नमय सृष्टि के समस्त पदार्थ, जो कि विषय तथा उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियों के रूप में अभिव्यक्त हैं, उत्पत्ति केवल पुरुष के भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) सम्पादनार्थ ही हुई है। कहने का अभिप्राय सृष्टि में उत्पन्न हुए प्राकृतिक पदार्थों के प्रयोजन की सार्थकता यज्ञार्थक देवपूजन वा संगतिकरण द्वारा ही सिद्ध हो सकती है

अन्यथा नहीं। यज्ञ ही जीवन में विकास तथा उसके संरक्षण का सम्पादक है। अतः वैदिक संदेश है –

यज्ञो वा अवति।

अर्थात् यज्ञ ही जीवन की रक्षा करता है।

सारांशतः देवपूजन तथा संगतिकरण रूप यज्ञ यद्यपि स्वयं में अपना भिन्न–भिन्न महत्व रखते हैं तथापि जीवन के लिए इन दोनों का सामञ्जस्य भी अत्यावश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि प्राप्त शक्ति का संगतिकरण कर समष्टि की सेवा में समर्पित करने में ही जीवन का सार्थकता है और यही आध्यात्मिक जीवन की प्रणाली में सर्वश्रेष्ठ साधन का स्वरूप है।

ॐ

यज् दाने

पूर्व विवेचन के साथ ही अब हमें थोड़ा यज्ञ के तृतीय पहलू को अभिव्यक्त करने वाले 'दान' शब्द पर भी विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि देवपूजन, संगतिकरण, दान, ये तीनों ही यज्ञ शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'दान' शब्द का प्रचलित अर्थ तो है प्राप्त प्राकृतिक पदार्थों को दूसरों की सुख–सुविधा के लिए समर्पित करना।

कुछ लोगों के विचार से दान के द्वारा ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मृत्यु के पश्चात् परलोक में सुख–सुविधा की व्यवस्था के लिए कन्यादान, गोदान, भूमिदान, वस्त्रदान, अन्नदान, जलदान आदि विविध प्रकार के दान का विधान किया गया है। धर्मशास्त्रों में सम्पत्ति की तीन गतियाँ बताई हैं–दान, भोग तथा नाश किन्तु प्रथम गति 'दान' में प्रयुक्त होने वाले धन को ही धन्य वा श्रेष्ठ बताया गया है–

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।

नीतिशास्त्र का संदेश है–

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्तेतस्य तृतीया गतिर्भवति।।

(नी.श./४३)

अर्थात् सम्पत्ति की तीन गतियां होती हैं–दान, भोग और नाश। जो प्राप्त हुए पदार्थ को परहित में प्रदान या स्वयं के सुख में उपयोग नहीं करता, उसके धन की तृतीय गति अर्थात् विनाश

अनिवार्य है।

इस विषय पर गहराई से विचार करने से यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वस्तुतः सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ समष्टि से सम्बन्धित है; इतना ही नहीं बल्कि जिस शरीर के द्वारा श्रम कर व्यक्ति सम्पत्ति का सम्पादन करता है, वह शरीर भी उस समष्टि का अभिन्न एक अंग मात्र है। कहने का अभिप्राय मानव शरीर की भी अपनी भिन्न स्वतन्त्र कोई स्थिति नहीं है, ऐसी अवस्था में जबकि सब कुछ सभी का सभी के लिए उस सर्वाधार, सर्वेश्वर के दिव्य विधान से सृष्टि के रूप में उत्पन्न हुआ है तो कौन, किसको, क्या दान करता है वा करेगा? अतः विवेक की दृष्टि से दान शब्द का प्रयोग ही उचित प्रतीत नहीं होता।

वर्तमान युग में यह भावना धीरे–धीरे ज़ोर पकड़ती जा रही है कि सृष्टि में जो कुछ भी पदार्थ है, वह किसी एक वा कुछ लोगों के लिए नहीं, सभी पदार्थों पर समान रूप से सभी का अधिकार है। अतः ये दया, दान तथा धर्म की बातें उस युग के लिए भले ही उपयोगी रही हों, जबकि व्यक्ति अपने अधिक बल व आसुरी वृत्ति द्वारा प्राकृतिक पदार्थों पर एकाधिकार कर बुद्धिहीन तथा निर्बलों को अपने अधीन रखता था किन्तु वर्तमान का मानव अब अपने नैसर्गिक अधिकारों को समझने में सक्षम हो चुका है, अतः इस अवस्था में उसके लिए दया, दान आदि का पाठ असांस्कृतिक तथा अर्थहीन है।

उपरोक्त प्रश्न तथा तत्सम्बन्धी विचार अवश्य ही ध्यातव्य हैं, इसमें संदेह नहीं किन्तु यज्ञविधानान्तर्गत देवपूजन, संगतिकरण के साथ 'दान' शब्द का प्रयोग अपने में एक विशिष्ट भाव रखता है जो कि सार्वदेशिक, सार्वकालिक तथा सार्वभौम रूप से माननीय है, अतः इस विषय पर यहाँ केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि 'दान' सदैव उस वस्तु वा पदार्थ का किया जाता है जो

अपना निज का हो वा जिस पर स्वयं का सहज अधिकार हो। अब यहाँ मानव के लिए विशेष विचारणीय बात यह है कि उसका अपना निज का क्या है वा सृष्टि में कौनसा वह पदार्थ है जिस पर उसका सहज अधिकार है? एक बात यहाँ सदैव याद रखनी चाहिये कि यज्ञ का संबंध प्रतिपल परिवर्तनशील प्राकृतिक पदार्थों से नहीं अपितु नित्य जीवन से है।

जीवन में जीने की कला से सम्बन्धित इस विषय में मैंने संक्षिप्त रूप से यज्ञमय जीवन की प्रक्रिया पर विचार किया है; किन्तु मुख्य रूप से मेरा विवेच्य विषय गीतोक्त आध्यात्मिक यज्ञमय जीवन की दिव्य व्यवस्था है, जो केवल व्यक्ति वा जाति के लिए ही नहीं बल्कि विश्व के प्रबुद्ध प्राणी मानवमात्र को एक शक्तिशाली, सुसंगठित तथा सर्वजनहिताय दिशा प्रदान कर भूतल पर ही मानवीय कल्पना के सर्वश्रेष्ठ आधार स्वर्गीय सुखों को उपलब्ध करा देती है।

दूसरे विचारसत्र में पाठकों को उस गीतोक्त याज्ञिक प्रणाली से जीवन में जीने की सीख को समझाने का प्रयत्न किया जायेगा, जिस के द्वारा आध्यात्मिक जीवन व्यवस्था के प्रतिफलस्वरूप उस अक्षय सुखमय दिव्य अवस्था को प्राप्त कर मानव जीवन के समस्त शूलों के कारण रूप अभावों से मुक्त हो सदा के लिए कृतकृत्य हो सकता है। इस विषय में वैदिक संदेश है—

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।

(ऋग्वेदः १/१६४—५०)

अर्थात् देवताओं ने (पूर्वोक्त रूप से) यज्ञ के द्वारा उस यज्ञ स्वरूप परम पुरुष का यजन (आराधना) किया, इन यज्ञ से

सर्वप्रथम सब कर्म उत्पन्न हुए उन धर्मों के आचरण से वे देवता

महान् महिमा वाले होकर उस स्वर्गलोक का सेवन करते हैं अथवा सम्पूर्ण कर्म जो भगवदर्पण बुद्धि से वा सर्वजनहिताय किये जाते हैं, यज्ञ है। उस सर्वहितकारी कर्मरूप यज्ञ के द्वारा सात्त्विक दिव्य वृत्ति रूप देवताओं ने उस यज्ञ स्वरूप विराट रूप से अभिव्यक्त परम पुरुष का पूजन (यजन) किया। सर्वजनहिताय किये गये यज्ञ रूप कर्मों के द्वारा सर्वप्रथम सर्वविध धर्म का उद्‌बोधन हुआ। या यों कहिये कि धर्माचरण कि उत्पत्ति ही सर्वजनहिताय याज्ञिक भावना से हुई। इस प्रकार समर्पण भाव से अपने समस्त कर्मों के द्वारा जो यज्ञरूप धर्म का आचरण करते हैं, वे उस परमात्मा के दिव्य धाम को प्राप्त होते हैं, जहाँ उनके साध्य वा आराध्य आदिदेव भगवान् विराजमान हैं।

ॐ

हमारे प्रकाशन

श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय १ एवं २)
श्री चण्डिकाशतक ● श्री श्यामशतक
मानस में धर्मरथ ● रामो विग्रहवान् धर्मः
मानस महाकाव्य में नारी ● गीता तत्त्व बोध
मानस के मोती ● जीवन विज्ञान ● भारत की आत्मा
सहज समाधि भली ● योग पथ
नारी! तुलसी की दृष्टि में ● शिव तत्त्व बोध
क्या वर्ण–व्यवस्था अभिशाप है ? ● राम नाम महिमा
ब्रह्मविद्या विज्ञान–प्रथम ● ब्रह्मविद्या विज्ञान–द्वितीय
तत्त्व चिन्तन ● सन्त सन्देश ● नारद भक्ति सूत्र
हिन्दू धर्म सूत्र ● गीतोक्त बुद्धियोग
काव्य सुधा ● श्री शिव शतक
Yoga for life ● The Hindu & its way of Life
How to be a Yogi ● Towards Divinity
Essence of the Gita ● Basic Principles of Yoga
श्री हनुमत विनय पच्चीसी
गीता ज्ञान विज्ञान योग
आपकी अपनी बात
योगांकुर ● साधना सूत्र ● गीता कर्म विज्ञान ● समाधान
विश्व को हिन्दुओं का योगदान ● मानस में वैदिक सिद्धान्त
सन्त लक्ष्ण ● श्री हनुमत ह्रदय
Science of the Absolute Knowledge(Commentary on Ishopanishad)
Lord Hanuman-Our Ideal ● Meditation Technique

दिव्यालोक मासिक पत्रिका

सद्विचारों के प्रचार और प्रसार की मासिक पत्रिका

सम्पर्क सूत्र

1. ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर,
   पो. ओ. पिंजौर (हरियाणा) पिन 134102
   फोन – 01733/65170, 65270, 65205
2. ब्रह्मर्षि योगाश्रम
   28–बी, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली–110032
   फोन – 011-2273660, 2271943
3. ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
   माधोपुरी, गऊशाला रोड, लुधियाना
   फोन – 0161/700141
4. ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन (अंग्रेजी मीडियम)
   बेअन्तपुरा, चण्डीगढ़ रोड़, लुधियाना
   फोन 0161/666406, 608406
5. श्री गीता रामायण सेवा संघ
   अशोक नगर, मोक्ष मार्ग, उदयपुर (राजस्थान)
   फोन – 0294-414140
6. Metaphysical Science Research Institute
   Sector 19-A, Chandigarh
   Ph. : 0172/775390
7. Brahmrishi Ashram
   278, Heston Road, Heston
   Middlesex TW5 ORT U.K.
   Ph. : 0181-571-3879
8. Brahmrishi Ashram
   717, Loosduinsweg, 2571 AM-Denhaag
   Nederland. Ph. : 070-3620961
9. Brahmrishi Mission of Canada
   Shri-RAM-DHAM Hindu Temple
   525 Bridge Street,
   East Kitchener, Ontario
   CANADA N2K3C5
   Ph. : 519-579-1486

10. Brahmrishi Ashram
1246, North Mantua Street, Kent,
Ohio-44240 U.S.A.
Ph. : 330-678-3793

11. ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय योग आश्रम, पुरी फार्म्स
जोड़ियां, रादौर रोड, यमुनानगर – 135001 (हरियाणा)
फोन–01732-89846

12. Brahmrishi Ashram Mission School
Jarar, Devvan, Piplaage
Bhuntar, Kulu (H.P.)
Ph. : 01902-65518, 66043

13. ब्रह्मर्षि बावरा विद्या मन्दिर
चकिशुनदास, ज्ञानपुर, भधोही, वाराणसी (उ.प्र.)

14. ब्रह्मर्षि बावरा शान्ति विद्यापीठ
दीनानगर, धार रोड, उधमपुर (जे. के.)
फोन : 01992-71080

15. ब्रह्मर्षि योगाश्रम,
बाईपास, ऋषिकेश रोड,
भूपतवाला, हरिद्वार (उ.प्र.)





भारत की आत्मा

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

वर्तमान की विभेदकारी [illegible] मुक्त हो भविष्य की योजना[illegible] के लिए मानव समाज अपने अतीत की ओर मुड़ कर देखना चाहता है कि क्या कोई सरल, सरस, सुन्दरतम साधन किसी मानव को उपलब्ध हुआ था जिसको आधार बना कर हम भी अपने भविष्य के निर्माण में सफलता प्राप्त कर सकें ? यह तो होना ही चाहिए जबकि वर्तमान में कोई भी हितप्रद मार्गदर्शन मानव जाति को उपलब्ध न हो सके तो उसकी पूर्ति के लिए वह अपने अतीत का दरवाज़ा खटखटाये, क्योंकि इस विश्व में कुछ भी नया नहीं है। यदि मानव अपने जीवन से अतीत को अलग कर दे तो वर्तमान उसका अपना कुछ भी नहीं रह जाता। वर्तमान में जो भी कुछ प्रतीत हो रहा है वह अतीत की ही तो देन है।



दिव्यालोक प्रकाशन

महर्षि आश्रम, विराट् नगर, पिंजौर, हरियाणा